तरुण-भारत-ग्रन्थावली-सं० ३३

साहित्य-सुषमा

(साहित्य के भिन्न भिन्न अंगों का प्रदर्शन)

सम्पादक

नन्ददुलारे वाजपेयी

लक्ष्मीनारायण मिश्र
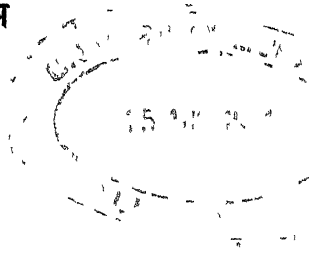
प्रकाशक

तरुण-भारत-ग्रन्थावली-कार्यालय

दारागंज, प्रयाग

वृत्ति]   सं० १९९२ वि०   [मूल्य १।॥)

निवेदन

बहुत दिन से इच्छा थी कि साहित्य के भिन्न भिन्न अंगो पर हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वानों के लिखे हुए विद्वत्ता-पूर्ण निबन्धों का एक सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया जाय। पर निबन्धो की खोज और उनका सम्पादन कोई सरल काम न था। संयोगवश पंडित नन्ददुलारे जी वाजपेयी से इसकी प्रार्थना की गई। वाजपेयी जी ने अपनी स्वाभाविक सुशीलता से प्रार्थना स्वीकार की, और पंडित लक्ष्मीनारायण जी मिश्र की सहायता से यह संग्रह-ग्रन्थ सम्पादित कर दिया।

सम्पादकों ने अपनी मार्मिक साहित्यिक दृष्टि से निबन्धों का चुनाव कितना सुन्दर किया है, निबन्धो के सम्पादन करने में कितना परिश्रम किया है, सो सुविज्ञ पाठकों को बतलाने की आवश्यकता नही। विशेष कर अपने अपने विषय के विशेषज्ञों और तज्ञों के ही निबन्ध इस संग्रह में रखे गये है। ऐसा नहीं है कि हिन्दी साहित्य के सभी तज्ञो और विशेषज्ञो के निबन्ध इसमें आ गये हों—इनके सिवाय हमारे अन्य विद्वान् साहित्य-कारों ने भी साहित्य के अन्यान्य अंगो और उपाङ्गो पर निबन्ध लिखे है। परन्तु ग्रन्थ बहुत बढ न जाय, और साहित्य के विशेष विशेष अंगों का समावेश भी इसमे हो जाय, यही दृष्टि रखी गई है।

आशा है, हिन्दी साहित्य का अध्ययन और अध्यापन करने वाले साहित्य-रसिकों को यह प्रयत्न सुन्दर और शुभ लगेगा।

—प्रकाशक।

विषय-सूची

---

(१)

काव्य-साहित्य के उपकरण

लेखक—रा० ब० बाबू श्यामसुन्दरदास बी० ए०

यह संसार असंख्य जीवधारियों की निवास-भूमि है। प्रत्येक जीव आत्मवान् है। ज्ञान, इच्छा और क्रिया ये आत्मा की तीन वृत्तियां मानी गई है। जिस प्रकार प्रत्येक जीव आत्मवान् है उसी प्रकार प्रत्येक मे अनात्मभाव भी है। आत्म और अनात्म के सम्मिश्रण से ही जीव-मात्र की रचना हुई है। गोस्वामी तुलसीदास ने इसी को 'जडचेतन की ग्रंथि' कहकर अपना प्रसिद्ध रूपक बाँधा है। संसार का संसरण इसी सम्मिश्रण का रूप है। आत्म और अनात्म दोनो ही परमात्मा मे है जिसकी लीला का यह संसार हमारी आँखो के सामने फैला हुआ है। जितने जीव-धारी है सबमे आत्मभाव और अनात्मभाव भिन्न-भिन्न मात्राओ मे व्याप्त हो रहा है। इसीलिए जीवो के अगणित रूप है। एक परमात्मा का यह अगणित रूप "एकोऽहं बहुस्याम्" के श्रुतिवाक्य से सिद्ध होता है।

इन प्रश्नों का उत्तर दार्शनिको ने अनेक प्रकार से दिया है, पर उन सब का प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध नही है। हमारे लिए तो यही जान लेना पर्याप्त है कि आत्म और अनात्म का भेद संसार मे दिखाई देता है और इस भेद के अतर्गत उसके अगणित उपभेद मिलते है। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' 'मुडे मुडे मतिर्भिन्ना' आदि अनेक उक्तियो मे इसी भेद की ध्वनि भरी हुई है। आत्म और अनात्म का स्वरूप क्या है, यह हम ऊपर के उदाहरण मे प्रकट कर चुके है। इन दोनों के मुख्य-मुख्य लक्षणो के संबध मे पंडितो ने प्रकाश डाला है। आत्मा का गुण आनन्दमय ठहराया गया है। आनन्द का विस्तार, प्रसार, उन्नयन—ये आत्मिक क्रियाएं कही गई है। इसी के विरोधी गुण तथा क्रियाएं अनात्मा की मानी गई है। किसी जीवधारी मे आनन्द का आधिक्य होता है, किसी मे उसकी न्यूनता होती है, किसी अन्य मे इसके विपरीत भाव देख पडते है। इसी चक्र से यह संसार चल रहा है।

आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, अनुराग और विराग ये क्रमश. आत्मा और अनात्मा के विषय है और ये ही साहित्य के भी विषय है। आत्म और अनात्म के सहित—यही साहित्य की सब से सत्य व्याख्या हो सकती है। जैसे नित्य-प्रति के जीवन मे हमारी ज्ञान, इच्छा और क्रिया की वृत्तिया आनन्द और विषाद, आकर्षण और विकर्षण, आत्म और अनात्म के अगणित द्विधा भेदो के साथ सयुक्त हो जाती है, वैसे ही साहित्य मे भी। जीवन मे जो प्रमुख इच्छाएँ और कामनाएँ है, साहित्य मे वे ही स्थायी भाव हैं। जीवन मे जिस प्रकार प्रत्येक जीव अपनी इच्छाओ की पूर्ति द्वारा अपने आनन्द का विस्तार करना चाहता है, उसी प्रकार साहित्य का भी प्रत्येक पाठक अपने अनुरूप 'रस' प्राप्त करना चाहता है। जिस प्रकार किसी देश जाति अथवा राष्ट्र का जीवन उसके प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का समष्टि रूप है और जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति ससार मे अपने जीवन को अपने ही पथ पर ले चलता और आप ही अपना विकास करता है उसी प्रकार साहित्य मे

भी समष्टिरूप से सब के योग्य सामग्री और सब के विकास के साधन रहते है । सराश यह कि हमारा साहित्य भी हमारे सृष्टिचक्र के तुल्य ही नानात्व के सहित है । यदि ऐसा न होता तो उसका साहित्य नाम कैसे सार्थक होता ? हमारी समझ मे चैतन्य मनुष्य ने अपने अनुरूप ही साहित्य की यह सजीव प्रतिमा निर्मित की है ।

दिव्यदृष्टि कवि तुलसीदास ने 'भावभेद रसभेद अपारा' कहकर रामायण के आरंभ मे काव्य और साहित्य की वास्तविक दिशा इंगित की है । यह विश्वचक्र भारतीय दर्शन द्वारा भावमय माना जाता है। पाश्चात्य शास्त्र भी भावजगत् की स्वतंत्र सत्ता मानते है। पश्चिम के विद्वानो मे इस विषय को लेकर शताब्दियो तक मतवाद चला , परन्तु प्रारम्भ से ही अनेक दार्शनिको को यह आभास मिलता रहा है कि मनुष्य की बौद्धिक, काल्पनिक आदि शक्तियां भावजगत् की सृष्टि मे योग तो देती है परन्तु वह भावजगत् अपनी पूर्णता मे निर्विकल्प और अद्वैत है। यूरोप मे इस विषय का शास्त्रीय निर्धारण करनेवाले दार्शनिको मे प्रमुख इटली का क्रोस है, जिसने अनेक प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध किया है कि यद्यपि कारण-रूप से मनुष्य की चैतन्य वृत्तिया अनेक रूपो द्वारा भावजगत् का निर्माण करती है , कभी बाह्य सृष्टि की वस्तुएं, कभी अपने ही अंतर की कल्पनाएँ मनुष्य को भावमय बनाती है , परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि भावजगत् किन्ही अन्य उपकरणो पर अवलम्बित अपने निजत्व मे अपूर्ण है। वह सब प्रकार से अपने मे पूर्ण और निरपेक्ष है। भावो की यह अप्रतिहत धारा सारी सृष्टि को सजीव बना रही है। साहित्य इसी व्यापक भावचक्र के सहित है। व्यष्टि-रूप से एक-एक काव्यकृति का संबंध उसके रचयिता और उसके उन भावो से है जिन्हे उसने उस अपार भावभेद से लेकर कृति-विशेप मे संचित किया है। भिन्न-भिन्न रचनाकार अपनी विभिन्न काव्य-रचनाओ मे उसी अपार भावभेद की निधि से अपने मनोनुकूल मणिरत्न चयन करते है और युग-युग मे यही क्रिया संतत क्रियमाण होती रहती है।

इसी क्रिया का सामूहिक प्रतिफल साहित्य कहलाता है। अतः साहित्य को भावजगत् का प्रतीक भी कह सकते है। काव्य मे व्यक्ति अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार भावो की एक नियमित मात्रा ही एक विशेष भाषा और परिमित शब्द-शक्ति द्वारा प्रकट करता है। युग-युग मे संचित होकर यही काव्यकृतियाँ साहित्य का रूप धारण करती है और वही भावराशि देश तथा जाति की संस्कृति और सभ्यता की मापरेखा बनकर अपना अस्तित्व दृढ करती है।

सौंदर्य

निस्सीम भावजगत् से, जिसे गोस्वामी जी ने 'अपार भावभेद' का विशेषण दिया है, यथेच्छ भावराशि चुनकर सज्जित करना ही काव्य की व्यापक व्याख्या हो सकती है। यहीं से यह स्पष्ट हो जाता है कि चयन और साज-सज्जा प्रत्येक काव्य की प्राथमिक विशेषताएँ है। इन दोनो के विभेद प्राय: अगणित होते है। इस दृष्टि से काव्य का कोई एक स्वरूप-निर्धारण नही किया जा सकता। केवल उसके प्रमुख उपकरण जाने जा सकते है। एक व्यक्ति अपने भावो की अभिव्यक्ति करना चाहता है, अर्थात् उसकी इच्छा काव्य रचने की होती है। वह प्रथम वार एक प्रकार के शब्दो तथा वाक्य-समुच्चयो का प्रयोग करता है, पर उसे संतोष नही होता, क्योकि वे शब्द तथा वे वाक्य-समुच्चय उसके भावो को व्यक्त करने मे असफल और असमर्थ होते है। वह पुनः प्रयत्न करता है। इस बार दूसरे शब्दो तथा छंदो आदि से काम लेता है। फिर भी अभिव्यक्ति का स्वरूप उसे असुन्दर जान पडता है। अनेक बार प्रयत्न करने के बाद एक बार आप से आप उसकी लेखनी से प्रकृत रचना फूट निकलती है। वह इसका आनंद लेता है और कुछ काल के लिए भावमग्न हो जाता है। इस लिए कि उसकी अभिव्यक्ति यथेष्ट और सुन्दर हुई है।

ऊपर के विचार से 'सुन्दर' यही काव्य का मौलिक उपकरण सिद्ध

होता है। पर यह 'सुन्दर' वास्तव मे क्या है? कलाकार ने प्रथम कई बार प्रयत्न करके जो अभिव्यक्ति की वह सुन्दर नही हुई। अन्त मे एक बार वह सुन्दर हो गई। उससे उसे आनन्द भी प्राप्त हुआ। परन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन सी विशेषता है जो उसकी अन्तिम बार की अभिव्यक्ति को सुन्दर बना देती है, जिसके अभाव मे प्रथम कई बार के उसके प्रयास असुन्दर कहे गए। इस प्रश्न का उत्तर सहज नही है। पाश्चात्य पंडितो ने काव्यगत 'सुन्दर' की व्याख्या करने मे बहुत अधिक शक्ति और समय लगाया, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि वे सफल हुए। हमारे संस्कृत वा ्मय मे अनेक साहित्यिक संप्रदायो ने अनेक प्रकार से उक्त सौन्दर्य पर प्रकाश डालना चाहा, परन्तु इस अनेकता मे ही वास्तविक तथ्य छिपा रह गया। काव्यकार की वह अभिव्यक्ति जो उसे सुन्दर प्रतीत हुई है और जिसका उसने सम्यक् आनन्द लिया है यदि किसी काव्य-समीक्षक को दी जाय तो संभव है उस समीक्षक को वह सुन्दर प्रतीत हो अथवा न भी प्रतीत हो। यदि वह एक समीक्षक को सुन्दर प्रतीत हो तो संभव है कि दूसरे समीक्षक को वह वैसी न प्रतीत हो। इस रुचिभेद का क्या कही आदि अंत है? क्या काव्यगत सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या की जा सकती है, और क्या कोई ऐसा काव्य है जो सब देशो मे सब कालो मे एकसा ही सुन्दर माना गया हो? इसका उत्तर नकार मे ही देना पडता है; परन्तु इससे एक बात, जो स्पष्ट हुए बिना नही रह सकी, यह है कि सौन्दर्य काव्य का एक अभिन्न अग है। यह बात दूसरी है कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या करना असंभव हो। जिस प्रकार काव्य मे सुन्दरता का निरूपण करके उसकी स्पष्ट तथा सर्वमान्य व्याख्या करना असंभव है, उसी प्रकार संसार की समस्त वस्तुओ के संबंध मे सुन्दरता का आदर्श निश्चित करना असंभव है। यद्यपि सुन्दरता, असुन्दरता आदि शब्द सापेक्षिक भावो के द्योतक है, फिर भी भिन्न-भिन्न देशो मे इसकी कसौटी भिन्न तथा अपने आदर्श, संस्कृति और सभ्यता के अनुसार

निश्चित की गई है। उदाहरण के लिए यदि हम मानव शरीर की सुंदरता का आदर्श अपने सामने रख ले तो इस विभेद का स्पष्टीकरण भली भांति हो जायगा। किसी देश मे छोटे पाव और छोटी आँखें सुन्दर मानी जाती है तो दूसरे देश मे सुडौल पैर तथा लंबी या गोल आँखें सुन्दर मानी जाती है। कही भूरे बाल और कंजी आखे सुन्दरता-सूचक समझी जाती है। दूसरे देशो में काले बाल तथा काली आँखे ही सुदरता का आदर्श है। इसी प्रकार बहुत से उदाहरण दिये जा सकते है। अब प्रश्न यह उठता है कि आदर्शों मे इतने भेदो का क्या कारण है? विचार करने पर इसका मूल कारण रुचि-वैचित्र्य तथा भिन्न-भिन्न संस्कृतियो तथा सभ्यताओ का क्रमिक विकास जान पडता है। सब देशो ने अपने-अपने देवी-देवताओ को ऐसा रूप दिया है जिसे उनकी कल्पनाओ ने सर्वोत्तम निर्धारित किया है। इस आदर्श को सामने रख-कर हम प्रत्येक देश की सुदरता की कसौटी जानने मे समर्थ हो सकते है। इसी प्रकार काव्य की सुदरता भी भिन्न-भिन्न रुचि तथा आदर्शों पर निर्भर रहती है और यह आपेक्षिक विभेद केवल व्यावहारिक सामंजस्य के लिए आवश्यक है। तत्त्व-निर्धारण के लिए तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सौन्दर्य काव्य का अनिवार्य उपकरण है।

रमणीय अर्थ

"रस-गंगाधर" नामक संस्कृत ग्रंथ मे कहा गया है कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। अर्थ की रमणीयता के अंतर्गत कुछ विद्वान् शब्द की रमणीयता भी स्वीकार करते है। प्रश्न यह है कि रमणीयता से किस विशेष तत्त्व का बोध होता है जिसकी हम एक निश्चित परिभाषा कर सके। इस देश के पुराने विद्वानो की यह रीति थी कि वे अपने विचारो को संक्षिप्त से संक्षिप्त शैली मे अर्थात् सूत्र, कारिका आदि के रूप मे प्रकट करते थे। यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो उनमे सूत्रकारों की बुद्धि का अपूर्व चमत्कार देख पडता है।

क्या यह चमत्कार रमणीयता की उपाधि नही धारण कर सकता ? विद्वानो के लिए अवश्य ही करता है ; परन्तु बहुतो को इनमे कुछ भी रमणीयता नही मिलती। जब उन सूत्रो की विस्तृत व्याख्या की जाती है तभी उनकी रमणीयता उन्हे प्रकट होती है । अतएव सूत्ररचनाकाल के उपरान्त संस्कृत साहित्य के इतिहास मे वह काल आया जब व्यासरूप से विषयो का निरूपण किया जाने लगा। ऐसे निरूपणो मे रमणीयता विशेष मात्रा मे मानी गई। परन्तु यहाँ भी मात्रा का ही प्रश्न रहा। पश्चिम मे भी प्राचीन काल मे बहुत से विषयो की व्याख्या सूत्ररूप मे ही की जाती थी। परन्तु धीरे-धीरे वह प्रणाली टूटती गई। विषय-निरूपण विस्तारपूर्वक किया जाने लगा। काव्य की व्याख्या करनेवालो ने कहा—"काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तके आनी चाहिएं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति की विशेषता के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हो और जिनमे रूप-सौष्ठव का मूल-तत्त्व तथा उसके कारण आनन्द का जो उद्रेक होता है उसकी सामग्री विशेष प्रकार से वर्तमान हो।" व्याख्याकार का आशय अर्थ की रमणीयता से स्पष्ट ही है। इसी रमणीयता के मोह मे पड़कर कुछ कवि या ग्रन्थकार ऐसे भी हो गए है जिन्होने वैद्यक और ज्योतिष के ग्रन्थो को भी रमणीय बनाने का बीडा उठाया था। उन्होने उस प्रकार की रचना इस उद्देश से की थी कि लोग उनके ग्रंथो को चाव से पढे। लोलिंबराज कृत वैद्यजीवन और वैद्यावतंस पुस्तके ऐसी ही हैं। ये दोनो ही संस्कृत भाषा मे है । ज्योतिषशास्त्र की भी दो एक पुस्तके इसी ढंग की है। परन्तु प्रश्न यह है कि उनमे कितनी वास्तविक रमणीयता मिलती है और क्या उन ग्रंथकारो की वह चेष्टा अनधिकृत नही थी ? ज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र रमणीयता का ही क्षेत्र नही बनाया जा सकता और न वैद्यक के ग्रंथ मे कविता-पुस्तक की सी रमणीयता लाई जा सकती है। जो विषय शास्त्रीय बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं और जिनसे मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य और रोगोपचार का संबंध है उन्हे

रमणीय बनाने का प्रयास विशेष रूप से कृत्रिम सा हो जाता है तो भी रमणीयता के सन्निवेश से वे शुष्क विषय भी कुछ न कुछ आकर्षक बन ही जाते है। साराश यह कि विविध विषयों मे रमणीय अर्थ का प्रतिपादन विविध मात्रा मे योग्य अथवा अयोग्य होता है और 'रमणीय अर्थ' स्वयं ही एक सापेक्षिक शब्द है। तथापि इतना तो अवश्य ही प्रकट है कि वह काव्य का एक आवश्यक उपकरण है।

अलंकार और रस

रमणीय अर्थ के प्रतिपादन के लिए सस्कृत मे अलंकारो की विशेष रूप से योजना की गई है और रस तो काव्य की आत्मा ही माना गया है। अलकार का प्रयोजन उस अंग-विशेष को अधिक आकर्षक बना देना है जिस पर वह धारण किया जाय। देखनेवाले की आँखे उस अंग-विशेष मे गड जॉय इसी प्रयोजन से अलंकारो की सार्थकता है। काव्य मे भी अनेकानेक अर्थालंकार और शब्दालंकार बनाए गए है। जिसमे वे पाठकों का ध्यान उस वर्णन-विशेष की ओर आकर्षित कर दे और उनकी मन की आँखो को उसमे गडा दे। इसका परिणाम यह हो कि इससे चित्त किसी प्रबल मनोवेग से चमत्कृत हो जाय और काव्य रसमय होकर उसके लिए आस्वाद्य बन जाय। धीरे-धीरे उक्त काव्यालंकारो की तालिका बना दी गई और रस की एक पद्धति तैयार कर ली गई। परंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकारो की कोई गणना नही की जा सकती और न सीमा बाधी जा सकती है। कभी कभी तो अलंकार काव्य-कामिनी के लिए भार-स्वरूप बन जाते है, जिससे उसकी स्वच्छ और नैसर्गिक सुन्दरता तिरोहित हो जाती है। यह भी देखा जाता है कि एक युग-विशेष के ग्रथकार जिन अलंकारो को सुरुचि के साथ सजाते है, दूसरे युग के लेखक उन्हे हेय समझते है। परिपाटी के अनु-सार जिस प्रसंग मे जो अलंकार शोभा के आगार और सुरस का संचार करनेवाले माने गए है समय और रुचि के भेद से कुरस का भी प्रसार

करते है। इस लिए अलंकारो की इयत्ता क्या है, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। यही बात रसों के लिए भी कही जा सकती है। कथन की कोई शैली, विचारों की कोई उडान, जब हृदय की कोई घुंडी खोल देती है और किसी प्रबल मनोवेग से चित्त चमत्कृत हो उठता है तब रस की निष्पत्ति समझी जाती है। परन्तु यह कोई नही कह सकता कि काव्य मे सर्वत्र रस-निष्पत्ति होनी ही चाहिए। रस का परिपाक तो कही-कही ही अपेक्षित होता है, तभी काव्य की शोभा भी बढती है। अपूर्ण रस के प्रसंग भी काव्य मे योग्य होते है और उनसे भी काव्य की शोभा होती है। तरुणी के प्रेमालाप का ही मूल्य नही है, उसके कटाक्षपात की भी विशेषता माननी पडती है। इसी प्रकार अलंकार और रस भिन्न-भिन्न काव्यो मे भिन्न-भिन्न प्रकार से उपकरण बनकर आते है। यह तो अधिकतर देखा जाता है कि जो भावयोजना एक देश के लिए बडी ही सबल और रसमयी है वह दूसरे देश के लिए बहुत ही निर्बल और नीरस होती है। अत अलंकार और रस को काव्य का आवश्यक उपकरण मानते हुए भी उनका कोई स्थिर रूप प्रदर्शित करना विवाद की परिधि मे पदार्पण करना है।

भाषा

कुछ समीक्षक भाषा को भी काव्य का एक उपकरण मानना चाहेंगे, परन्तु विचार करने पर प्रकट होता है कि भाषा काव्य का उपकरण नही है। वह काव्य से अभिन्न ही है। भाषा के बिना काव्य की कल्पना नही की जा सकती और न भावजगत् की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भाषा का कोई दूसरा प्रयोजन जान पडता है। भाषाओ की उत्पत्ति के सबध मे भाषा-विज्ञान-विशारदो ने जो सिद्धात उपस्थित किए है उनमे सर्वमान्य सिद्धात विकासवाद का ही है। जैसे-जैसे भावो की अभिव्यक्ति अधिकाधिक परिमाण मे होती गई है वैसे ही भाषाओ का विकास भी होता गया है। कुछ विचारक यह मानते है कि आरम्भ मे तो भाषाएँ इसी रूप

मे विकसित होती गई हैं, पर कुछ काल के अनन्तर जब मनुष्य अधिक सभ्य और भाषा के प्रयोग मे अधिक योग्य हो गया तब उसने भाषाओं के नैसर्गिक विकास का आसरा न देखकर एक साथ ही उसे बहुसंख्यक शब्दो से संयुक्त कर दिया। इतिहास मे तो इस प्रकार का कोई प्रमाण नही मिलता, पर यदि यह मान भी लिया जाय तो भी इससे भाषा-विकास की परम्परा नही टूटती और न उसे अभिव्यक्ति-परम्परा से भिन्न मानने की आवश्यकता होती है। जिस किसी विद्वद्वर ने अधिक मात्रा मे शब्द गढ-गढ कर भाषा मे भरे होगे उसने उन शब्दो की पर्याय भाव-मूर्त्तियो की कल्पना भी की ही होगी। निरर्थक अथवा भाव-शून्य शब्द तो हो ही नही सकते। अन्त मे यही निष्कर्ष निकलता है कि भाषा का विकास चाहे क्रमशः हुआ हो अथवा किसी विशेष काल मे किसी असाधारण रीति से ही क्यो न हो गया हो, पर भाषा तो अभिव्यक्ति ही है। काव्य भी अभिव्यक्ति है। इस लिए भाषा को काव्य का उपकरण न मानकर उससे एकाकार मानना ही उचित और बुद्धिसंगत है।

इस मत का अपवाद नाटको के अभिनय मे मिलता है। अभिनय के लिए जो रूपक लिखे जाते है उनकी अभिव्यक्ति केवल भाषा द्वारा ही नही होती—रंगशाला के नटो, दृश्यो तथा अन्य उपकरणो से भी होती है। नट तथा नर्तकिया भावभंगियों द्वारा नाटककार के आशय को स्पष्ट करती है और रंगमंच की सजावट उसकी रचना को अधिक प्रभावशालिनी बनाकर व्यक्त करती है। यह सत्य है, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि काव्य और भाषा का अभिन्न संबंध टूट गया। जब रूपक-काव्य अभिनय द्वारा अपना प्रभाव उत्पन्न करते है तब हमे यह मानना चाहिए कि काव्य अपने प्रकृत क्षेत्र से बाहर जाकर दूसरे उपकरणो को उधार ले रहा है। कलाओ मे इस प्रकार का आदान-प्रदान सदैव चला करता है। अभिनयो मे यदि रूपक को नृत्य तथा भाषण आदि की सहायता लेनी पडती है तो यह अस्वाभाविक नही, उचित ही है। मूल मे सब अभि-व्यक्तियाँ एक है, भेद केवल व्यावहारिक है।

सत्य

सभी कलाओ की भाति काव्य का सत्य भी असाधारण होता है। क्योकि वह सामान्य सत्य से नही मिलता। चित्रो मे कुछ रेखाएँ खीच दी जाती है और उनका अर्थ हो जाता है एक मनुष्य, एक सुन्दर प्राकृतिक दृश्य, एक विस्तृत घटना। मूर्तिकार माइकेल एंजिलो ने अपने शिष्यो के लिए कुछ आदेश दे रखे थे जिनका अनुसरण करने से कुछ भिन्न प्रकार की रेखाएँ सुन्दरता का मापदंड बन जाती थी। यूरोप मे टेढ़ी-मेढी रेखाओ की चित्रोपमता के संबंध मे बडी-बडी पुस्तके तक लिख डाली गई है। यहा विचार करने का विषय यह नही है कि माइकेल एंजिलो की आदिष्ट रेखाओ अथवा उन बडी-बडी पुस्तको के ऊहापोह से चित्रकला को वास्तविक मे क्या लाभ पहुँचा। यहा तो जानने की बात यह है कि चित्रकला रेखाओ की सहायता से ही सजीव आकृतियो की अनुरूपता प्राप्त करती है। यही बात काव्य-कला के संबध मे भी चरितार्थ होती है। काव्य में प्रत्येक वाक्य अन्य सयोगी वाक्यो से संश्लिष्ट होकर अपना अर्थ व्यक्त करता है। अतः उसमे सर्वत्र अर्थवाद ही का प्रसार होता है। यद्यपि संस्कृत के आचार्यों ने शब्दो की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियो का अलग-अलग उल्लेख किया है, पर काव्य मे प्रयुक्त होने पर शब्दो की ये सभी शक्तियाँ वही प्रभाव नही रखती जो वस्तुजगत् मे वे रखती है। काव्यजगत् मे आकर प्रत्येक शब्द हमारे उन भावो को जागृत करता है जो वासना रूप से हम मे निहित रहते है। हमारी कल्पना, स्मृति आदि की शक्तियाँ इस कार्य मे योग देती है और हम एक असाधारण रूप मे काव्य का अर्थ ग्रहण करते है। जैसे चित्र की रेखाएँ रेखा-मात्र नही है, उनका अर्थ वही नही है जो एक त्रिकोण क्षेत्र या चतुर्भुज क्षेत्र की रेखाओ का होता है; उसी प्रकार काव्य के वाक्य, पद आदि असाधारण रूप मे संश्लिष्ट अर्थ ध्वनित करते है। इसी असाधारण अर्थ-ग्रहण से काव्य

एक विशेष प्रकार का आनन्द प्रदान करता है जिसे संस्कृत के साहित्य-शास्त्री अलौकिक आनन्द कहते है।

कवि अपने काव्य का निर्माण करता हुआ वस्तु-जगत् और कल्पना-जगत् की अनोखी वस्तुओ को रूप प्रदान करता है। वह ऐसी-ऐसी अत्युक्तियो का प्रयोग करता है जो साधारण दृष्टि से स्वप्न मे भी सत्य नही हो सकती। वह ऐसी-ऐसी उपमाएं लाकर रखता है जिनके केवल एक गुण-विशेष या आकार-विशेष का ही अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है और शेष सब से कोई प्रयोजन ही नही रखा जाता। काव्यजगत् के ये सब प्रसग रहस्यमय है, परन्तु इनके सत्य होने मे संदेह नही किया जा सकता। ये जैसे आप से आप ही अपना अनोखापन दूर कर सत्य बनकर प्रतिष्ठित हो जाते है। हम एक नाटक का अभिनय देखते है। उस नाटक के पात्रो से हमारा कभी का परिचय नही। जो अभिनेता हमारे सामने उपस्थित होकर अभिनय कर रहे है उनसे हमारा कोई संबंध नही। जो कुछ हम देखते है वह हमारी वास्तविक परिस्थितियो से बहुत दूर है। पर क्या बात है कि हम उससे प्रभावित होते है? बात वही है जो एक चित्र के देखने पर होती है। नाटक भी एक प्रकार का चित्र ही है। वह ठीक चित्रकला के नियमो का पालन करता है। चित्र छोटे से छोटे आकार मे बडे से बडा बोध करा सकता है। प्रत्येक रेखा की एक अनोखी व्यंजना हो जाती है। यही कला का सत्य है। यही काव्य का भी सत्य है।

साधारणतः काव्य के सत्य से हमारा अभिप्राय यह होता है कि काव्य मे उन्ही बातो का वर्णन नही होना चाहिए, और न होता ही है, जो वास्तविक सत्यता की कसौटी पर कसी जा सकती है, पर उनका भी वर्णन होता है और हो सकता है जो सत्य हो सकती है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यह बात है तो काव्य मे अत्युक्ति अलंकार का कोई स्थान ही नही होना चाहिए। वह तो सर्वथा असत्य होगा। पर बात ऐसी है कि हम अपने वर्णन द्वारा पाठकों के हृदय पर वही भाव जमाना चाहते

है जो हमारे हृदय-पटल पर जम चुका है। इस लिये उस प्रभाव को ठीक ठीक शब्दो द्वारा प्रकट करने के लिए हमे उसे बढ़ाकर कहना पडता है। "कनकभूधराकार शरीरा" कहने से यह तात्पर्य नही होता कि वास्तव मे उसका शरीर सोने के पहाड के आकार का था। वरन् बात यह होती है कि सोने के पहाड को देखकर जो भावचित्र हमारे मन पर अंकित होता है, उस शरीर को देखकर उसकी लंबाई-चौडाई तथा ऊँचाई का भी वैसा ही प्रभाव हम पर पडता है। अतएव अत्युक्ति-अलंकार मे असत्यता का आरोप करना काव्य के मूल उद्देश्य की उपेक्षा करना है।

काव्य के कितने ही अंतर्भेद किए गए है। पहले तो गद्य, पद्य और चम्पू की तीन शैलियाँ संस्कृत के काव्य-शास्त्रियो ने अलग-अलग की है। फिर दृश्य और श्रव्य काव्य अथवा कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका आदि भेद हुए। कविता मे गीतकाव्य, खंड काव्य, महाकाव्य आदि। फिर छंदो की अगणित शृङ्खलाएँ और मुक्त वृत्त, गद्य निबंध, इतिहास, नाना शास्त्र, विद्याएँ और उनके अनेक अंग-उपाग ये सब भेद-उपभेद मिलकर संख्याहीन बन जाते हैं। काव्य की अभिव्यक्ति की कौन सी इयत्ता है? चित्रकला की रेखाओ का क्या लेखा है? कितने रंगरूप है? सब मिलकर एक अखड अभिव्यक्ति का रूप धारण कर लेते है। अवश्य ही यह अभिव्यक्ति-परंपरा जगत् की एक शाश्वत और अनिवर्चनीय विभूति है, जिसका हम 'साहित्य' कहकर निर्वचन करते है।

लोकहित

महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा उनके अनुयायियो ने सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के तीन गुणो का आरोप जब से काव्य साहित्य मे किया तब से प्रत्येक साधारण समीक्षक के विचार मे इन तीनो गुणो का अभिन्नत्व मान्य हो गया है। जब कभी काव्य की चर्चा होती है, इनका उल्लेख किया जाता है। परन्तु जिन्होने इस विषय मे कुछ गंभीर विचार किया है और तथ्य को जानने की चेष्ठा की है वे समझते है कि सौन्दर्य

तथा सत्य तो काव्य के आवश्यक अंग है, परन्तु उसके 'शिवत्व' 'लोकहित' आदि के विषय मे बहुत कुछ मतभेद है। आधुनिक यूरोप मे इस विषय को लेकर अपरंपार विवाद किए गए है। कुछ विद्वानो ने लोक-हित को काव्य विवेचन से बहिष्कृत कर दिया है और उसकी चर्चा करना भी काव्य की सीमा मे अनुचित समझा है। इसके विपरीत कुछ धार्मिक प्रकृति के लोगो ने काव्य को लोकहित का साधन मात्र मान लिया है और उसके शेष गुणो की अवहेलना कर दी है। इन परस्पर-विरोधी मतो के मध्यस्थ कितने ही अन्य मत खड़े हुए है जिन्होने बड़े सुदृढ आधारो पर अपना अड्डा जमाया है। हम कह सकते है कि काव्य मे यही एक विषय है जिस पर प्रत्येक पक्ष से विचार किया गया है।

जो विद्वान् काव्य और कलाओ के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते है वे कहते है कि कलाएँ भी इस जगत् की ही भांति निरन्तर विकास कर रही है। यूरोप के प्राचीन काल की कलावस्तुओ का अध्ययन करनेवालो ने अपभ्र या बर्बर कला का विवरण उपस्थित किया है। उस समय कला-सामग्री का विशेष रूप से अभाव था। अतः उसका विकास भी सीमित क्षेत्र मे ही हुआ था। यद्यपि उस बर्बर काल की कला-वस्तुओ का ठीक-ठीक अध्ययन अब भी नही किया जा सका है, परन्तु विद्वानो का मत है कि आचार, लोकहित आदि की वर्तमान धारणाओ का उनमे नितान्त अभाव है और उनका सौन्दर्य भी अतिशय निम्नकोटि का है। उस काल के उपरान्त यूरोप मे कलाओ के विकास का मध्यकाल आया, जिसे वहा वाले कलाओ का स्वर्णयुग कहते है। सौन्दर्य और स्वाभाविकता की इतनी प्रचुर मात्रा के सहित उनका निर्माण किया गया है कि उन्हे देखकर उदात्त भावो का सचार हुए बिना नही रहता। कलाकार की रचना-चातुरी के सामने हमे सिर झुकाना पडता है। क्रिश्चियन मतावलंबी उस काल की मूर्तियो को अपनी धार्मिक दृष्टि से भी देखते है और उनमे धर्मतत्त्व का अनुभव भी करते

हैं। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उस बर्बर काल की कलावस्तुओं मे हमे कोई सौन्दर्य या सुरुचि नही मिलती तो क्या उसके निर्माताओ के हृदय मे भी वे भावनाएँ नही थी? थी, परन्तु अविकसित रूप मे थी। मध्यकाल की धार्मिक प्रेरणा से कला का जो सुन्दर विकास हुआ उससे तो प्रकट होता है कि बाइबल की धर्मपुस्तक और तज्जन्य उदात्त भावनाएँ कला के विकास मे सहायक हुईं। वे इतने प्रबल रूप से सहायक हुईं कि उस काल की कला के उत्कर्ष को परवर्त्ती कलावस्तुएँ भी नही प्राप्त कर सकी। इस अध्ययन से विद्वानो का निष्कर्ष यह निकला है कि कला का सौन्दर्य और उसका असाधारण सत्य ही उसकी मुख्य अंतरंग विशेषता होती है और धार्मिक तथा अन्य उपकरण कलाकार के व्यक्तित्व मे अथवा देश-काल के वातावरण मे प्रवेश कर कला के सौन्दर्य और सत्य का उन्मेष करते है।

भारत मे बौद्धकाल की, तंत्रकाल की तथा गुप्त-काल की मूर्तियो का अध्ययन करनेवाले विद्वानो को उनमे उन कालो के धार्मिक, सामाजिक तथा आचार संबंधी छाप मिलती ही है। बहुतसी मूर्तियो की रचना तो बौद्ध जातको, तान्त्रिक और ब्राह्मण ग्रन्थो की कथाओं का आधार लेकर की गई है। किसी देश, काल अथवा जाति के विचारो की ऐसी परम्परा बन जाती है और उस परंपरा का इतना बलशाली पभाव पडता है कि कलाओ का विकास बन्द हो जाता है। इस्लाम की धर्मपुस्तको मे एकेश्वरवाद की जो भावना दृढ हुई और तत्कालीन नवमुस्लिम अधिपतियो ने मूर्तिपूजा के विरुद्ध जो आक्रमण आरंभ किए वे कला और आचार का ऐतिहासिक सम्बन्ध बतलाने मे बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकते है। उनका सार अर्थ यही जान पडता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से कला और आचार, कला और धर्म, कला और दार्शनिक परंपरा का कार्य-कारण-सम्बन्ध स्वीकार करना चाहिए।

परन्तु इतिहास के इस निष्कर्ष का अर्थ न समझकर कुछ अद्भुत प्रकार के तथाकथित आदर्शवादी समीक्षक कलाओ के वास्तविक सत्य

को न समझकर धार्मिक विचार से उनकी तुलना करते हैं। उनके लिए धार्मिक आदेशो का शुष्क रूप ही श्रेष्ठ कला का नियन्ता तथा माप-दंड बन जाता है। ये कला-समीक्षक किसी सुन्दर तथा सुगठित मूर्ति का नग्न सौन्दर्य सहन नही कर सकते न उस कला-सत्य का अनुभव कर सकते है जो उस नग्नता से प्रस्फुटित हो रहा है। इनमे कल्पना का इतना अभाव होता है कि कलाओं की भावव्यंजना उनके लिए कोई अर्थ ही नही रखती। वे केवल उनके बाह्य रूप को ही अपने रूढ़िबद्ध आचार-विचारो की कसौटी मे कसते है। काव्य मे आकर ये कला-समीक्षक 'सत्य बोलो,' 'अपरिग्रह का पालन करो' आदि सिद्धान्त-वाक्यो को ही पढकर सन्तोष प्राप्त कर लेते है, पर दुःख तो यह है कि उनकी इस अनोखी रुचि की तृप्ति करनेवाला कोई भी व्यक्ति-विशेष अपने को कवि अथवा कलाकार के आसन पर प्रतिष्ठित नही कर सका।

मनोविज्ञान की दृष्टि से भी इस विषय का विशद विवेचन किया गया है और हम देखते है कि यूरोप मे इसके फलस्वरूप दो परस्पर विपरीत कला-संप्रदाय उत्पन्न हो गए है। इनका कार्यक्रम एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार करना ही रहा है। प्रसिद्ध मनोविज्ञान-शास्त्री फ्रूड के मत में कला के मूल मे मनुष्य की वे भावनाएँ और इच्छाएँ है जिन्हे वह समाज के नियमो के कारण अथवा अन्य प्रतिबन्धो के कारण वास्तविक जीवन मे चरितार्थ नही कर सकता। काव्य और कला के कल्पना-जगत् में वह उन्हे चरितार्थ करता है। साहित्य आदि मे शृङ्गार रस की प्रचुरता को वे इसका प्रमाण बतलाते है। इसके विरुद्ध मतावलंबियों ने भी एक नवीन सिद्धान्त की आयोजना की है और वह यह है कि सत्य की प्रेरणा मनुष्य मात्र के अंतःकरण की एक स्वाभाविक वृत्ति है। मनुष्य मात्र सदाचार, सद्धर्म, सुप्रवृत्ति आदि से तृप्त होता है और उनके विपरीत गुणो से उसे घृणा होती है। मनुष्य की मानसिक तृषा-शान्ति के लिए उसे सद्वृत्तियो की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती

है। अतः यदि कलाएँ मनुष्य के अंतःकरण की सच्ची प्रतिबिंब हैं तो अवश्य ही वे सत्य की ओर प्रवृत्त होगी।

इस अन्तिम विचार के अनुसार कलाओं मे लोकहित आदि के 'शिवत्व' की प्रतिष्ठा आप से ही आप हो जाती है। परन्तु कला समीक्षको को यह मूल तत्व विस्मरण न होना चाहिए कि प्रत्येक काव्य का अथवा कला-कृति का निर्माता व्यक्ति-विशेष होता है। फिर उसके शिवत्व का स्वरूप भी उसी के विकास के अनुकूल होगा। और उस शिवत्व को अपनी कलावस्तु मे स्थापित करने के लिए उसे कला के उपर्युक्त सौन्दर्य और सत्य का भी विचार रखना पड़ता है। वह ऐसा नहीं कर सकता कि लोकहित का ध्यान करके उपदेशो का पहाड निर्माण करने लगे और कला के वास्तविक सौन्दर्य तथा उसके असाधारण प्रभाव का मूल-तत्त्व ही बिसार दे।

अंग्रेज़ी साहित्य मे जब से मेथ्यू आर्नल्ड का 'साहित्य जीवन की व्याख्या है' सिद्धान्त प्रचलित हुआ तब से कलाओं के लोकपक्ष पर विशेषरूप से आग्रह किया जाने लगा। आर्नल्ड के ही समकालीन कलाशास्त्री वाल्टर पेटर ने सौन्दर्य की झाँकी लेना, सुन्दर को असुन्दर से पृथक करना और उसका रस प्राप्त करना यही कला-समीक्षा का क्षेत्र बतला कर मानो आर्नल्ड के लोकपक्ष की बराबरी पर अपना सौन्दर्य-पक्ष उपस्थित किया था। इन दोनो पक्षो मे कोई तात्त्विक विरोध नही है, इसका प्रमाण तो इतने ही से लग जाता है कि आर्नल्ड और पेटर दोनों ही उत्कृष्ट समीक्षको ने समान रीति से कवियो के काव्य की आलोचना की और वे प्रायः एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे। परन्तु यूरोप मे ये दोनो ही पक्ष हठवादिता के केन्द्र भी बना लिये गए, जिसके कारण वास्तविक साहित्यालोचन अवरुद्ध हो गया। एक ओर 'कला के लिए कला' का प्रचार करनेवाले पंडितो ने शास्त्रार्थ आरंभ किया और दूसरी ओर टालस्टाय जैसे क्रान्तिकारी व्यक्ति ने मानो साहित्य के क्षेत्र मे भी क्रान्ति

करने के आशय से धर्म-मिश्रित कलावाद की सृष्टि की। आज भी इंगलैंड मे प्रोफ़ेसर क्विलर कोच, क्लाइव बेल जैसे विद्वान् साहित्य-शास्त्री 'कला के लिए कला' को सिद्ध कर रहे हैं और उनके विरोध मे मिस्टर आई० ए० रिचर्ड्स् आदि अपने उपयोगितावादी, आचारवादी पक्ष को प्रकट करने मे संलग्न है।

इन अनेकानेक विवादों से यदि कुछ तथ्य निकाला जा सकता है तो यही कि प्रत्येक कलाकार अपनी रुचि अथवा शक्ति के अनुसार सत् तथा असत् की धारणाएँ रखता है, जिन्हे वह अपनी कलाकृति मे प्रकट करना चाहे तो प्रकट कर सकता है। पर इसके लिए वह बाध्य नही है। प्रत्येक युग अपनी अपनी विशेषताएँ रखता है। आधुनिक युग विचारो के प्रसार और जीवन-समस्याओ के स्पष्टीकरण का है, किन्तु सब युग ऐसे ही नही रहे। आधुनिक काल की समस्याएँ आगे चिरदिन तक बनी रहेंगी अथवा उनका अन्तिम समाधान उसी रूप मे होगा जिस रूप मे आज हुआ है, यह कोई नही कह सकता। आज यदि बर्नार्ड शा के नाटको मे विलायती जीवन की समस्याओ का निरूपण और समाधान किया जा रहा है तो काव्य का यही एक आशय नहीं माना जा सकता। फिर कला की दृष्टि से आधुनिक कला कुछ विशेष उन्नत भी नही मानी जा सकती। यह तो निश्चय है कि प्रत्येक कलाकृति के निर्माण का कुछ रहस्य होता है। पर केवल सौन्दर्य से मुग्ध होकर अथवा आनन्दपूर्ण एक झलक पाकर भी काव्य-रचना की जा सकती है, और की गई है। वह सौन्दर्य अथवा वह आनन्द की झलक उस कला में आकर स्वयं लोकहित बन जाती है और काव्य के लिए यही मूल लोकहित है। काव्य तथा कलाओं के संख्याहीन रूपो को देखते हुए और उनके प्रभाव को समझते हुए किसी रूढ़िबद्ध, नियमित लोकहित को हम काव्य या कला का अंग नहीं मान सकते। हॉ कलाओ का लोकपक्ष हमे स्वीकार है और हम यह मानते है कि संसार के अधिकांश श्रेष्ठ कलाकार धार्मिक और उच्च प्रकृति के महापुरुष हो गए हैं।

व्यावहारिक विभाग

अध्ययन की सुविधा के लिए काव्य के कुछ मुख्य-मुख्य विभाग कर लिए जाते है जो केवल व्यावहारिक विचार से स्वीकार किए जाने चाहिएं। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि कोई एक विभाग किसी दूसरे की अपेक्षा मौलिक रूप से प्रधान है अथवा उसकी महत्ता अधिक है। कलात्मक सत्य को प्रकट करने के लिए काव्य की अनेक शैलियां बना ली गई है। अपने-अपने स्थान पर सब का समान महत्व है। जब मानवमन किसी रागमयी कल्पना से उद्वेलित होकर अभिव्यक्त हो उठता है तब वह अभिव्यक्ति प्रायः गीत रूप मे होती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया सर्वत्र देखी गई है। जब उक्त उद्वेलन चित्त की किसी महान् तथा स्थायी प्रेरणा से उत्पन्न होता है अथवा बाह्य संसार की कोई उदात्त घटना इसका कारण होती है तब महाकाव्य का उद्गम होता है। जब कल्पना का पुट हलका होता है और मनुष्य वास्तविक जगत् के किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष से आकर्षित होकर उसका वर्णन करता है तो गद्य काव्य, इतिहास आदि ग्रंथों का प्रणयन हो जाता है। जब जीवन के किसी लघु अंश को ही चमत्कृत रूप में चित्रित करने की उत्कण्ठा होती है तब आख्यायिका अथवा खंडकाव्य की सृष्टि की जाती है। इन विभागो के भी अनेकानेक उपविभाग कर लिए गए है। फिर मनुष्य के अंतःकरण को कौन सी वृत्ति प्रधान बन कर काव्य के किस रूप मे व्यक्त होती है यह हिसाब भी लगाया गया है। परन्तु हमको यह स्पष्ट कह देना चाहिए कि इस प्रकार के मानसिक अथवा काव्य-सम्बन्धी विभाग तथा उनके पारस्परिक तारतम्य व्यावहारिक और काल्पनिक ही है। इन्हे केवल साधारण सुविधा तथा परिचयात्मक बोध करने के विचार से स्वीकार किया जा सकता है। इस प्रकार के श्रेणी-विभाग से कभी कभी विशेष क्षति भी पहुँचती है, जिससे सचेत रहना सर्वथा हितकर होगा। अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि वर्डसवर्थ को एक बार अपनी कविताओ को मानसिक वृत्तियों के आधार पर विभाजित करने की झक चढ़ी थी। उसने

Fancy, Sentiment, reflection, आदि मन के कई कटघरे बनाकर उसमे कविता-कोकिल को पालना आरम्भ किया था। पर लोगो के समझाने से उसका वह प्रयास दूर हो गया, नही तो बहुत संभव था कि वह इसके फेर मे पडकर अपनी नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा को खो बैठता।

ग्रीस के जगत्-प्रसिद्ध दार्शनिक और विचक्षण तत्त्ववेत्ता अरस्तू ने काव्य के कितने ही उपविभाग किए थे जो पश्चिम मे अब तक व्यापक रीति से मान्य हो रहे है। हमारे देश मे तो श्रेणी-विभाजन तथा वर्गीकरण की धुन सी ही सवार रही है। यहाँ जिस सूक्ष्मता से विभाग किए गए हैं वे विशेष रूप से प्रशंसनीय कहे जा सकते है। परन्तु यह कह देना आवश्यक होगा कि ये विभाग तात्त्विक आधार पर स्थित नही हैं। हमे यह भी प्रकट कर देना चाहिए कि इन विभागो की संख्या जितनी ही अधिक बढाई जायगी उतने ही अधिक वे कृत्रिम होते जायँगे। क्योकि सत्य तो यह है कि कला मात्र की ही भांति काव्य की भी अभिव्यक्ति अखंड तथा अविभाज्य है।

गद्यात्मक काव्य और कविता-मय गद्य का नाम हम प्रायः सुना ही करते है। बाणभट्ट की कादम्बरी गद्य मे है; पर वह अत्यधिक कवित्वपूर्ण है। इसी प्रकार बहुत सी रचनाएं पद्य मे की गई है जो गद्य मे की जाती तो अधिक चमत्कार उत्पन्न करती। बहुत से रूपक अभिनय से लिए लिखे जाते है और बिना अभिनय के उनका आनन्द ही नही प्राप्त होता, पर बहुत से ऐसे भी रूपक हैं जो पढने-पढाने के ही काम मे आते है और जिनका अभिनय किया ही नही जा सकता। इतिहास के कुछ ग्रंथकार केवल घटनाओ का उल्लेख करके विश्राम लेते हैं, परंतु कुछ उसे सरस-तर काव्य का रूप प्रदान करने मे सुख मानते है। काव्य का जगत् ही ऐसा है जहां कल्पना भी सत्य बन जाती है और सत्य कल्पना का रूप धारण कर लेता है। कौन कह सकता है कि मन के कितने तत्त्व जगत् के कितने तत्वो से किन-किन रूपो मे संश्लिष्ट हो रहे हैं। प्रत्येक देश का

दर्शन उसके काव्य को एक अनोखा ही रूप देने मे समर्थ हुआ है। फिर उस रूप का उपविभाग किस तात्त्विक दृष्टि को मान्य होगा? नारी की असंख्य मूर्तिया अगणित मूर्तिकारो ने अंकित की हैं, क्या वे सब प्रकार से एक दूसरे के अनुरूप है? क्या सब की समग्री अलग-अलग नही? क्या सब की रुचि मे भेद नही, संस्कार, विकास सब भिन्न नही? जब हम किसी दूसरी भाषा की पुस्तक का अनुवाद भी अपनी भाषा मे करते हैं तब भी उसे अपनी भाषा की प्रकृति के अनुकूल बना लेते हैं। कोई भी दो वस्तुएँ एक नही हो सकतीं। फिर काव्य-साहित्य के भेदोप-भेद करके उसके संबंध मे इदमित्थं कहने का साहस कौन कर सकता है?

---

(२)

कला का उद्गम, आनंद और प्रकाश

लेखक—डा० हेमचन्द्र जोशी तथा पं० इलाचन्द्र जोशी

साहित्य का रस

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानं स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति । यद्वै तत् सुकृतम् रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्

—तैत्तिरीय उपनिषद्,—७ अनु० ७

अथर्ववेद में एक श्लोक है, जिसका भावार्थ यह है कि उच्छिष्ट-मात्र से आनंद का स्वरूप विकसित होता है, अर्थात् मनुष्य की जब रात दिन की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, तब उन आवश्यकताओं के परे मनुष्य का जो ज्ञान उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है, उसी उच्छिष्ट ज्ञान के आधार पर आनन्द प्रतिफलित होता है। कला का मूल यही आनन्द है। अब प्रश्न यह उठता है कि आनन्द है क्या चीज़? आनन्द है दिव्य ज्योति। ज्योति है स्वयं प्रकाश। जब उत्ताप साधारण अवस्था मे होता है, तब वह रचनादि प्रयोजनीय कार्यों मे उपयोजित होता है। पर जब वह प्रयोजनीयता से आगे बढ जाता है, तब अपने को प्रकाशित करना चाहता है, और ज्योति के रूप मे प्रकाशित होता है। होली जलाने मे हमे इतना आनन्द क्यों आता है? कारण, उसमें अग्नि का आत्म-प्रकाश हमे दिखलाई देता है, यद्यपि उससे हमारा कोई प्रयोजन सिद्ध नही होता। ब्रह्मानन्द इसी आनन्द के विकास की चरम परिणति है। इस विपुल विश्व की सृष्टि के मूल मे कोई प्रयोजन नही है। उस अनादि, अव्यक्त पुरुप के अभ्यन्तरीण आनन्द

का प्याला जब लबालब भर गया, उसके उच्छिष्ट अंश को जब भीतर बन्द रहने का स्थान नहीं मिला, तो उसने अपने को व्यक्त करना चाहा। शून्य में सज्यमान यह अनन्त जगत् इसी अतिरिक्त आनन्द की रचना है। कला भी नये-नये भाव तथा रसों का सृजन करती है। यह रस-सृष्टि आत्म-प्रकाश से ही उत्पन्न होती है। आत्म-प्रकाश का उत्सव ही प्रयोजनातीत आनन्द है। लोहा प्रयोजन मे बद्ध है, इसलिये वह आत्म-प्रकाश की शक्ति नही रखता। पर रेडियम के भीतर उसकी सत्ता की आवश्यकता से इतने अधिक 'इलेक्ट्रन' (वैद्युतिक परमाणु) रहते है कि वे अपने को तीव्र ज्योति-संपन्न रंजन-रश्मियो मे प्रकाशित करते हैं। आनन्द तथा आत्म-प्रकाश का मूल सूत्र यही पर है। कला का आरंभ भी यहीं से होता है।

मानवात्मा नाना प्रकार के सुख-दुःखो और अनेक आवर्त्तन-विवर्त्तनों के बीच से होकर अपने को प्रकाशित करती है। आत्म-प्रकाश मे ही उसके जीवन की सार्थकता है। इसलिए जानकर या अनजान मे वह इसी धुन मे लगी रहती है कि कैसे अपने को व्यक्त करे। महाकाल की अवधि मे, महाकाश के रंगमंच पर, जीवन के प्रकाश से मृत्यु की विकराल यवनिका के भीतर, अनेक घूर्णित चक्रो के घात-प्रति-घात मे, इष्ट होनेवाले मानवात्मा के आत्म-प्रकाश का उपदेश भारतीय कला के आचार्यों ने शिव के ताडव-नृत्य मे दर्शाया है। शंभु के इस विकट नर्तन मे पाप और पुण्य, दु.ख और सुख, आत्मानंद द्वारा प्रेरित होकर, बिना किसी कारण के, प्रवाहित होते रहते हैं। इस नर्तन का चक्र प्रति-क्षण जारी रहता है। कवि लोग इसी नर्तन की घूर्णा से अपने काव्यों के लिए मसाला इकट्ठा करते हैं। रामायण मे राम-प्रमुख भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के चरित्र का स्वाभाविक विकास अपूर्व रूप से चित्रित हुआ है। इस विकास के भीतर ही हमे उन चरित्रो के आत्म-प्रकाश का परिचय मिलता है। महाभारत का भी यही हाल है। पर कला केवल व्यक्ति के आत्म-प्रकाश मे ही आबद्ध नही है। मानवात्मा के भीतर

स्थित नाना प्रकार की सुकुमार वृत्तियाँ तथा नाना प्रकार के सूक्ष्म भाव, रेडियम के वैद्युतिक कणो की तरह, अपने को प्रकाशित करने के लिए प्रतिक्षण उन्मुख रहते हैं। ईथर मे अव्यक्त रूप से प्रवाहित होनेवाले इन भावो को बाँधकर पकडने के लिए संगीत-कला तथा गीत-काव्य की सृष्टि हुई है। इन्ही कलाओ के भीतर से वे भाव आत्म-प्रकाश करते हैं। मेघदूत मे इसी प्रकार के ईथरीय भाव प्रकाशित हुए है। भैरवी, आसावरी, सारंग, इमन-कल्यान, विहाग आदि राग-रागनियो मे इन्ही भावो का अपूर्व कम्पन हृदय को विकल कर देता है।

स्वान्तःसुख

तुलसी के रामचरित-मानस मे काव्य और संगीत का अपूर्व संयोग है। संगीत केवल राग-रागिनी के भीतर ही आबद्ध नही है। उसकी व्याकुलता किसी भी ढाँचे मे ढाली जा सकती है। उनके इस काव्य मे मानव-चरित्र के व्यक्तिगत विकास के साथ ही साथ, पानी के ऊपर तेल की तरह, भक्ति-रस का स्रोत अलग से बहता जाता है। भक्ति की यह व्याकुलता ही संगीत है। तुलसीदास की यह अभिनव रचना उनके हृदयस्थित आनन्द का ही उद्गार है। उन्होने यह ग्रंथ 'स्वान्तःसुखाय' ही लिखा है। यही कारण है कि हम आज विज्ञ और अनभिज्ञ सभी व्यक्तियो पर समभाव से उसका प्रभाव देख पाते हैं। यदि यह रचना आनन्दोत्थित न होकर लोगो मे भक्ति के 'प्रचार' के भाव से लिखी गई होती, तो हम इसका यह आदर कदापि न देख पाते। जिस प्रकार शून्य में मुक्त रूप से बिखरे हुए भगवान् के अखण्ड आनन्द को इस सृष्टि का प्रत्येक जीव, अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्य के अनुसार, ग्रहण करके मस्त रहता है उसी प्रकार तुलसीदास के हृदय से उत्सारित आनन्द के रस से भरे हुए इस काव्य को प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपनी भावना के अनुसार अपनाता है। कोई किसी से यह पूछने की आवश्यकता नही समझता कि यह ग्रन्थ क्यो अच्छा है। कारण यह कि आनन्द का स्वरूप अज्ञ

से अज्ञ व्यक्ति भी, अपनी बुद्धि के अनुसार, बिना संशय के, ग्रहण कर लेता है। पर शुद्ध ज्ञान की रचना को कुछ चुने हुए बिरले आदमी ही समझ पाते है, और उन्हे भी उसमे विशेष रस नही मिलता। आनन्द की सृष्टि और प्रयोजनीयता की रचना मे यही अन्तर है।

समस्त सृष्टि मे आत्मप्रकाश की प्रवृत्ति इतने सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से वर्तमान है कि देखकर आश्चर्य होता है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध करके दिखा दिया है कि सृष्टि के प्रत्येक परमाणु के भीतर सौर चक्र वर्तमान है। जिस प्रकार हमारे इस बृहत् सूर्य की परिक्रमा अष्ट-ग्रह किया करते है, और उन ग्रहो की परिक्रमा उपग्रह करते है, उसी प्रकार यही नियम सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु तक पाया जाता है। यह सृष्टि के भीतर आत्मप्रकाश की उद्दाम प्रवृत्ति का नमूना है। केवल सत्ता ही नही, सत्ता के पीछे जो अव्यक्त चेतना वर्तमान है, वह भी अनेक रूपो मे प्रतिपल अपने को प्रकाशित कर रही है। इसी चेतना के प्रभाव से विश्व का प्रत्येक कण प्रतिक्षण घूर्णित होता रहता है। यह घूर्णा आनन्द के विश्वव्यापी संगीत पर ताल देती रहती है। मनुष्य इसी चेतना द्वारा प्रेरित होकर सृष्टि के संगीत को अपनी भाषा मे व्यक्त करना चाहता है। इस सगीत का आनन्द ही भारतीय कला का प्राण है।

नीति-निरपेक्षता

त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ;

× × ×

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः। (गीता)

कला का मूल उत्स आनन्द है। आनन्द प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमे आनन्द प्राप्त होता है, पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नही होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शाति प्राप्त होती है पर उससे हमे कोई शिक्षा नही मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। कारण, आनन्द समस्त लौकिक शिक्षा तथा व्यवहार से अतीत

है । उसमे कोई बहस नही चल सकती । हमे आनन्द क्यो मिलता है, इसका कोई कारण नही बताया जा सकता । वह केवल अनुभव ही किया जा सकता है । "ज्यो गूंगे मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावै ।" आनन्द का भाव वाणी और मन की पहुँच के बिलकुल अतीत है । "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।" पर नीति का सम्बन्ध मन के साथ है । मन बिना आलोचना के आनन्द के सहज भाव को ग्रहण नही करना चाहता । वह पोथी पढ-पढ़कर 'पंडिताई' मे मस्त रहता है । सहज प्रेम तथा आनन्द के 'एकै अच्छर' से उसकी तृप्ति नही होती । वह कविता पढ़कर इस बात की खोज मे लग जाता है कि इसमे अर्थनीति, राजनीति, राष्ट्रतत्व, भूतत्व, जीवतत्व अथवा और कोई तत्व है या नही । वह यह नही समझना चाहता कि इस कविता मे आनन्द का जो अमिश्रित रस है, उसके सामने किसी भी तत्व का कोई मूल्य नही । पर जो लोग इस दुष्ट समालोचक मन का दमन करने मे समर्थ होते हैं वे कला के 'आनन्दरूपममृतम्' का अनुभव कर लेते है । उपनिषदों मे हमारे भीतर पाच पृथक पृथक कोषो का अवस्थान बतलाया गया है । अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष । अन्नमय कोष के संस्थान के लिए हमे अर्थनीति की आवश्यकता होती है । प्राणमय कोष की पुष्टि के लिए धर्मनीति की, मनोमय कोष के लिए कामनीति की, और विज्ञानमय कोप के लिए वैज्ञानिक नीति की । पर जब इन सब कोषो की स्थिति पार करके मनुष्य आनन्दमय कोष के द्वार खटखटाता है, तो वहा सब प्रकार की नीति तथा नियमो के गट्ठर को फेंककर भीतर प्रवेश करना पडता है । वहा बुद्धि का काम नही, वहां आनन्दमयी इच्छा का राज्य है । वहा यदि नीति किसी उपाय से घुस भी गई, तो उसे इच्छा के शासन मे वेष बदलकर दुबके हुए बैठना पडता है । लौकिक तथा प्राकृतिक बधनो की अवज्ञा करनेवाली इस सर्वजयी इच्छा महारानी के आनन्दमय दरबार मे नैतिक शासन का काम नही

है। वहां सहज प्रेम का कारबार है । वहां इस प्रेम के बन्धन मे बँधकर पाप और पुण्य भाई भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलते है ।

नीति ? इस विपुल सृष्टि के मूल मे क्या नीति है ? क्या प्रयोजन है ? क्या तत्त्व है ? अहन्यहनि असंख्य प्राणी विनाश को प्राप्त हो रहे है, असंख्य प्राणी उत्पन्न होते जाते है । उत्पन्न होकर फिर अपने स्नेह-प्रेम, सुख-दुख, हँसी-रुलाई का चक्र पूरा करके अनन्त मे विलीन हो रहे है । इस समस्त चक्र का अर्थ ही क्या है ? अर्थ कुछ भी नही । यह केवल भगवान् के सहज आनन्द की लीलामय रचना है ।

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है । उसके भीतर नीति, तत्त्व अथवा शिक्षा का स्थान नही । उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तन्त्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है । उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौंदर्यदेवी के मन्दिर को कलुषित करना है ।

रामायण के मूल आदर्श के भीतर हमको कौन-सा नैतिक तत्त्व प्राप्त होता है ? कुछ भी नही । उसके भीतर केवल राम की विपुल प्रतिभा की स्वाधीन इच्छा का लीलामय चक्र, विस्तृत रूप से, अत्यन्त सुन्दरता के साथ, चित्रित हुआ है । रामायण निस्सन्देह बृहद् ग्रथ है, और उसके विस्तृत क्षेत्र मे सहस्रो प्रकार के नैतिक उपदेश स्थान-स्थान पर ढूँढने से मिल सकते है । पर इस प्रकार खंड-खंड रूप से इस महाकाव्य को विभक्त करने से उसकी अखंड, वास्तविक तथा मूल सत्ता का नाश हो जाता है । यदि उसकी वास्तविक श्रेष्ठता का कारण हमे मालूम करना है, तो हमें उसकी समग्रता पर ध्यान देना होगा । उसके मूल आदर्श पर विचार करना पड़ेगा । रामायण से यदि हमे केवल यही तत्त्व पाकर संतोष करना पड़े कि उसमे पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह तथा पातिव्रत्य का उपदेश दिया गया है तो यह महाकाव्य अपनी आनन्दोत्पादिनी महत्ता

को खोकर एक अत्यन्त क्षुद्र नीति-ग्रन्थ मे परिणत हो जाता है। ऐसे उपदेश हमे सहस्रो साधारण नैतिक श्लोको तथा प्रवचनो से रात-दिन मिलते रहते है। तब इस काव्य मे विशेषता क्या है? इसकी कथा सहस्रो वर्षों से जनता के हृदय मे अखंड रूप से क्यो विराजती आई है? कारण वही है। अनादि पुरुष की "एकोऽहं बहुस्याम्" की इच्छा की तरह प्रतिभा भी सृजन का कार्य करती है। जिस प्रकार सृष्टिकर्त्ता के उपदेश का रहस्य कुछ न जानने पर भी हमे उसकी ईश्वरी माया के खेल मे आनन्द आता है, उसी प्रकार प्रतिभा की स्वाधीन इच्छामयी उद्दाम प्रवृत्ति की सर्जना का अभिनव विलास देखकर, उसका मूल आदर्श न समझने पर भी, हमे सुख प्राप्त होता है। राम की प्रतिभा अपूर्व तथा सुविस्तृत थी। राम एकदम वन-गमन के लिए क्यों तत्पर हो गये? पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्होने ऐसा नही किया। वह पिता की इच्छा भली भाँति जानते थे। वह जानते थे, पिता उन्हे वन भेजना नही चाहते और यथाशक्ति उन्हे उनके ऐसा करने से रोकेंगे। पर प्रतिभा किसी भी बात पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विचार करके बाल की खाल निकालना नही चाहती। इसी लिए लोग उसका इतना सम्मान करते है। वह एक झलक मे समस्त स्थिति को समझकर अपना कर्त्तव्य निर्धारण कर लेती है। अंग्रेजी मे जिसे Exalted state of mind कहते हैं, राम की मानसिक स्थिति सर्वदा, सब समय वैसी ही रहती थी। उनकी प्रतिभा की विपुलता अपने आप मे आबद्ध न होकर, प्रतिक्षण नानारूपो मे, नाना क्षेत्रो मे, अपने को विस्तारित करने के लिए उन्मुख रहा करती थी। उसकी गति प्रतिक्षण वर्तमान को भेदकर सुदूर भविष्य की ओर प्रवाहित होती रहती थी। स्वामी, स्त्री, पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के बीच तुच्छ स्वार्थ की छीना-झपटी की अत्यन्त हास्यकर तथा नीच प्रवृत्ति के प्राबल्य तथा विस्तृति की आशङ्का करके उन्होने अत्यन्त प्रसन्नता तथा वज्र-कठिन दृढता के साथ महत्‌त्याग स्वीकार किया और अपने गृह मे घनीभूत स्वार्थ के भाव

को, त्याग-करुणा-विगलित रस से बहाकर, साफ कर दिया। उन्होने पिता का प्रण निभाया, इस बात पर हमे उतनी श्रद्धा नही होती, जितनी इस बात पर विचार करने से कि उन्होने इस स्वार्थ-मग्न संसार के प्रतिदिन के व्यवहार की यवनिका भेदकर सुदूर अनन्त की ओर अपनी प्रतिभा की सुतीक्ष्ण दृष्टि प्रेरित की। उनकी इस इच्छा-शक्ति के वेग की प्रबलता के कारण ही हमे इतना आनन्द प्राप्त होता है, और हृदय बारम्बार संभ्रम तथा श्रद्धा के साथ उनके पैरो तले पतित होना चाहता है।

यदि कोरी नीति के आधार पर ही समस्त कार्यों का निर्धारण करना हो, तो राम का वन-गमन अनीति-मूलक भी कहा जा सकता है। उनके वन-गमन से उनकी प्रजा को चौदह वर्ष तक कितना कष्ट उठाना पडा, इसका उल्लेख रामायण मे ही है। उनके पिता की मृत्यु का कारण भी यही था। भरत को सुख-भोग की जगह तपस्या करनी पडी। यह सब परिणाम समझकर ही राम बन गए थे। बन मे उन्हे जाबालि मुनि मिले थे। जाबालि ने उनके बनवास को व्यर्थ साधन बतलाया। उन्होने कहा कि तुम्हारी इस साधना को कुछ भी उपयोगिता नही। तुम समझते हो कि पिता का प्रण निभाकर मैने महत् कार्य किया है; पर यदि वास्तव मे देखा जाय तो कौन किस का पिता है, कौन किस का भाई? जब तक जीवित रहना है, तब तक मौज करते चले जाओ, इस भस्मीभूत देह का पुनरागमन कहाँ है? मरने के बाद कौन पिता है, कौन पुत्र? केवल दुर्बल भावुकता के कारण ही तुमने वन-गमन स्वीकार किया है, और मोहान्धता के कारण इस त्याग को तुम श्रेष्ठ आदर्श समझ बैठे हो। यदि केवल नीति के ही पीछे लगा जाय, तो जाबालि की यह उक्ति वास्तव मे यथार्थ जान पडती है। परलोक की कौन जानता है, इसी जीवन मे प्रत्यक्ष में जो निश्चित लाभ होता है, चाणक्य की "यो ध्रुवाणि परित्यज्य" की नीति के अनुसार वही श्रेष्ठ है और "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि" वाली उक्ति सभी जानते हैं।

अपना स्वार्थ ही, कोरी नीति की दृष्टि से, सब से बडी बात है। पर हम पहिले ही कह आए है कि प्रबल प्रतिभा का संप्लवन (over flow) नैतिक तथा नैयायिक उक्तिपो को ग्रहण नही करता। अकारण ही अपने को प्लावित करने मे उसे आनन्द मिलता है। राम जानते थे कि उनके वनवास की कोई सार्थकता नही है, पर उनकी प्रतिभा ने यही दिखलाना चाहा कि उनकी आत्मा अनंत की विपुलता से पागल है, और अपने क्षुद्र परिवेष्टन के भीतर बन्द नहीं रहना चाहती। आत्मप्रकाश का आनन्द इसे ही कहते है। यदि नैतिक उपयोगिता का विचार करके उन्होने वनगमन किया होता तो वह घटना आज मानव हृदय को करुणा से इतना द्रवीभूत न करती। कवि के तीव्र आत्मानुभव तथा उसकी कल्पना की वास्तविकता का परिचय हमे यही पर मिलता है।

यदि नाति की छोटी-मोटी बातो पर ध्यान देना आवश्यक होता, तो हम आज महाभारत के समान विपुल काव्य से वचित रहते। उसे बात-बात पर सफाई देनी होती की द्रौपदी के पाँच पति क्यो थे? वेदव्यास जैसे महात्मा का जन्म घृणित व्यभिचार से क्यों हुआ? धृतराष्ट्र और पाडु क्षेत्रज पुत्र होने पर भी महाशाली क्यो हुए? कुन्ती कौमार्यावस्था मे ही गर्भवती होने पर भी पाडवा की सर्व-जन-प्रशसिता माता क्यो हुई? (सूर्य की दुहाई देना वृथा है, विवेचक पाठक जानते हैं कि सूर्य के समान किसी तेजस्वी पुरुष के औरस से ही कर्ण का जन्म हुआ था — सूर्य रूपक-मात्र है) इत्यादि असंख्य ऐसे ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर महाभारतकार की कलम लेश-मात्र भी इन कारणो से नही हिचकी। कारण स्पष्ट है। कवि यही दिखलाना चाहता है कि इन तुच्छ नैतिक उल्लघनो से उनके महत् आदर्श पर किंचिन्मात्र भी आँच नही आ सकती।

कालिदास का मेघदूत क्या नीति सिखाता है? विरह-जन्य आनन्द की इस रचना का लक्ष्य यदि नीति की ओर होता, तो वह असह्य हो उठती। अलकापुरी के जिस आनन्दमय देश की ओर कवि हमे आकर्षित

करके ले चलता है, उसके सम्बन्ध मे हमारे मन मे यह प्रश्न बिलकुल ही नही उठता कि वहाँ जाकर क्या होगा ? किसी नैतिक लाभ के लिए हम अलकापुरी को नही जाते, हम जाते हैं आनन्द की विपुलता अनुभव करने के लिए। वहाँ जिस आनन्द का हम अनुभव करते है, वह तुच्छ सुख-दुःख, क्षुधा-तृष्णा तथा पाप-पुण्य से अतीत है।

पाश्चात्य प्रमाण

केवल हमारे ही देश मे नही, पाश्चात्य देशो मे भी बहुतसे लोग नीति के उपासक हैं। ग्येटे की रचनाओ मे नीति की अवहेलना देखकर कई लोग उन पर बरस पड़े है। शेक्सपियर के नाटको मे से कई समालोचक अपने इच्छानुसार नीति निकालने मे व्यस्त रहते है। प्रकृति के सच्चे उपासक, प्रसिद्ध फ्रासीसी चित्रकार मिले (Millet) की कला के बहुत से आलोचको ने उसकी राजनीतिक व्याख्या करने की चेष्टा की थी। यह बात इस प्रकृति के चतुर चितेरे को बहुत बुरी लगी। प्रसिद्ध क्रातिकारी प्रूधो (Proudhon) ने उन्हे चित्रो के ज़रिये राजनीतिक प्रश्न हल करने के लिए उसकाया, पर वे इस अयुक्त प्रस्ताव पर सम्मत नही हुए। इससे यह न समझना चाहिए कि वे देशद्रोही थे। राजनीति से देशप्रेम का कोई सम्बन्ध नही। सहज प्रेम के साथ नीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है ? मिले स्वयं कृषक के पुत्र थे, और किसानों के प्रति उनकी इतनी सहानुभूति थी कि उनके प्रायः सभी चित्रो से कृषक-जीवन की सरलता का सुमधुर परिचय मिलता है। उनके चित्रो की सरलता से मानवात्मा की यातनाओ का आभास अत्यन्त सुन्दर रूप से आंखो मे झलकता है और हृदय मे किसानों के प्रति आन्तरिक सहानुभूति उमड पडती है। पर उनका उद्देश्य किसानों की दुर्दशा का चित्र खीचकर तात्कालिक साम्यवाद की राजनीतिक महत्ता 'प्रचार' करने का नही था। यही कारण है कि उनके चित्रो ने अमरत्व प्राप्त कर लिया है।

महाकवि ग्येटे को जर्मनी के कई समालोचकों ने इस बात के लिए कोसा था कि वे सदा राजनीति से विमुख रहे हैं। इस पर उन्होंने लूडन से कहा था—"जर्मनी मुझे प्राणों से प्यारी है। मुझे बहुधा इस बात पर दुःख होता है कि जर्मन लोग व्यक्तिगत रूप से इतने उन्नत होने पर भी समष्टि के विचार से इतने ओछे हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ जर्मन लोगों की तुलना करने से हृदय में व्यथा का भाव उत्पन्न होता है, और इस भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान में मैं इस व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ, क्योंकि उनका सम्बन्ध समस्त विश्व से है, और उनके आगे राष्ट्रीयता की सीमा तिरोहित हो जाती है।" पाठकों को मालूम होगा कि कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ का भी यही मत है। ग्येटे ने किसी अन्य स्थान पर कहा है—"सत्य की इस सरल उक्ति पर लोग विश्वास नहीं करना चाहते कि कला का एक-मात्र उन्नत ध्येय उच्च-भाव को प्रतिबिंबित करना है।" इंगलैंड के प्रसिद्ध साहित्यालोचक कार्लाइल जब एक बार बर्लिन गए थे, तो किसी भेंट के अवसर पर कुछ लोगों ने ग्येटे पर यह दोष लगाना आरंभ किया कि इतने बड़े प्रतिभाशाली कवि होने पर भी उन्होंने धर्म-सम्बन्धी बातों की अवहेलना की है। कार्लाइल ने उनकी संकीर्णता से क्रुद्ध कर कहा—Meine Herren, did you never hear the story of that man who vilified the Sun because it would not light his cigar ?" यह मुँहतोड़ जवाब सुनकर किसी के मुँह से एक शब्द न निकला।

सभी जानते हैं कि रूसो नीति के कितने पक्षपाती थे। पर जब वह कला की रचना करने बैठते थे, तब नीति-वाति सब भूल जाते थे। उनके प्रसिद्ध उपन्यास *La Nouvelle Heloise* में उनके हृदय की क्षुब्ध वेदना प्रतिबिंबित हुई है। उनके इस आत्म-प्रकाश की मनोहरता के कारण ही यह ग्रन्थ इतना आदरणीय है। सच्चा कलावित् हृदय की प्रेरणा से ही चित्र खींचता है, न कि बाह्य आवश्यकता के अनुसार।

टालस्टाय को नीति की छोटी छोटी बातो का भी बडा खयाल रहता था। यहा तक कि अपनी 'What is Art?' शीर्षक पुस्तक मे उन्होंने अनीति-मूलक ग्रंथो की तीव्र निन्दा करके यह मत प्रतिष्ठित किया है कि कला के भीतर नीति का होना परमावश्यक है। उन्होने जिस समय यह मत प्रचारित किया था, उस समय उन्होने यह भी लिखा था कि मेरी इस समय से पहले की रचनाएँ दोषपूर्ण समझी जानी चाहिएं। पर उनका सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास *Anna Karenin* इसके बाद लिखा गया था। इसके प्रकाशित होने पर लोगो को यह आशंका हुई थी कि उसमे नीति भरी पडी होगी। पर उनकी यह आशंका निर्मूल निकली। टालस्टाय सच्चे कलावित् तथा शिल्पी थे। उनका व्यक्तिगत मत चाहे कुछ भी हो, पर उनकी आत्मा मे कवि-स्वभाव का राज्य होने के कारण कला की रचना मे वह नीति की संकीर्णता घुसेड-कर कला के आदर्श को खर्च नही कर सकते थे।* *Anna Karenin* मे Kitty (किटी) के गार्हस्थ्य जीवन की शात, सुखमय छवि अवश्य हृदय को आराम पहुँचाती है, पर अभागिनी अन्ना के संघर्षण-क्लिष्ट 'दुर्नीति-मूलक' जीवन के प्रति प्रत्येक पाठक की आतरिक समवेदना

---

* टालस्टाय कट्टर नीतिवादी थे, उनके प्रबन्धों में इसकी ही महिमा गाई गई है, लेकिन वे कला-प्राण थे, इसलिए उनके उपन्यासो और कहानियो मे अज्ञात-रूप से यह क्षुद्र नीति लुप्त हो गई है। उनके दुर्नीति-विरोध के बारे मे वे ही कलामय शब्द कहे जा सकते हैं, जो उन्होंने चेकाब की कहानी 'डालिंग' के बारे में कहे हैं—

" He intended to curse, but the god of Poesy forbade it him and commanded him to bless, and he blessed, and unwillingly he arrayed in such a wonderful light that darling creature, that she will for ever remain the model of what a woman can be * * * The story is so beautiful just because it came forth unconsciously.

(Tchekhov by Koteliovski, P. 48.)

उमडी पडती है। और तो क्या, स्वयं ग्रंथकार ने, अपनी इच्छा के प्रतिकूल, अनजान मे, अंत तक अन्ना के जीवन की 'ट्रेजेडी' के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। आरंभ मे ग्रन्थकार का जाहिरा मकसद किटी के गार्हस्थ्य तथा नीति-अनुमोदित जीवन की स्निग्धता और अन्ना के जटिल तथा नीति-विरुद्ध जीवन के बीच भेद (Contrast) प्रदर्शित करके एक निश्चित नैतिक सिद्धांत प्रतिष्ठित करने का रहा है। पर थोडी ही दूर जाकर, दुःखिनी अन्ना के उन्नत चरित्र की जटिलता का विचार करके, उसका यह उद्देश्य शिथिल हो जाता है, और अन्त को जाकर मानव-चरित्र की अन्तर्गत दुर्बलता की समस्या का कोई समाधान ही कवि नही करने पाया है। कहाँ वह कठिन नीतिज्ञ का निष्ठुर दंड लेकर 'दुर्नीत' को शासित करने चला था, कहाँ शासित व्यक्ति के साथ मानवत्व के समान सूत्र मे ग्रथित होकर उसे भी रोना पडा है। सच्चे कलावित् की श्रेष्ठता का प्रमाण इसी से मिलता है। वह अपने प्राण की प्रेरणा से चरित्र चित्रित करता है, और अपने प्राण ही में वह उन चरित्रो की यातनाओ का अनुभव करता है। धर्मध्वजी लेखक की तरह, अपने चरित्रों से अपने को बिलकुल अलग समझ कर, वह शासक नही बनना चाहता।

जहा किसी नीति को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का मूल उद्देश्य रहता है, वहाँ वह संकीर्णता का प्रचार करता है, पर जहाँ सत्य, सौंदर्य तथा मंगल से पूर्ण स्वाभाविक छवि चित्रित करके ही चित्रकार अपना काम पूरा हुआ समझता है, वहाँ उस आदर्शमय चित्र की स्वाभाविक सरलता हृदय को उन्नत बनाने मे सहायक होती है।

---

(३)

साहित्य और जीवन का संबंध

ले०—पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी

हमारी हिन्दी मे और अन्यत्र भी इन दिनो साहित्य और जीवन मे घनिष्ठ संबंध स्थापित करने की जोरदार मॉग बढ रही है। आज परिस्थिति ऐसी प्रवेगपूर्ण है कि इस मॉग की खूब कद्र की जा रही और खूब दाद दी जा रही है। स्कूलो और कालेजो के विद्यार्थी बडी उमंग के साथ इस विषय के व्याख्यान सुनते और ताली बजाते है। लेखकगण घर के बाहर स्वदेशी लिवास मे रहने मे प्रतिष्ठा पाते है और समालोचकगण उत्कर्षपूर्ण साहित्यकार की अपेक्षा जेल का चक्कर लगा आने वाले सैनिक साहित्यिक के बड़े गुण गान करते है। पत्र पत्रिकाओ मे जोशीले लेख छपते है जो जीवन और साहित्य को एकाकार करने के एक कदम और आगे बढकर लेखों को लेखकों के खून से सराबोर देखना चाहते है। एक प्रकार का उन्माद उत्पन्न किया जाता है जो साहित्य-समीक्षा को जड से उखाड फेकने का सरंजाम करेगा और जीवन को नितात उग्र और, संभव है, पाषंडपूर्ण भी बना देगा। बंगाल मे ऐसे ही विचार-प्रवाह के कारण, महाकवि रवीद्रनाथ को, कियत्काल के लिये ही सही, धक्का उठाना पडा है और आज हिन्दी मे भी वही हवा चल रही है। हम जिस संकीर्ण वात्याचक्र मे घिरे हुए साँस ले रहे है उसमे यदि साहित्य को राजनीतिक प्रोपेगण्डा का साधन बनाया जाय तो यह स्वाभाविक है। ऐसा अन्य देशो मे भी होता रहा है। पर इसे ही साहित्यिक समीक्षा की स्थिर कसौटी बनाने और इसी के अनुसार उपाधि-वितरण करने का हम समर्थन नही करते। साहित्य और जीवन का संबंध देखने

के लिये क्षणिक राष्ट्रीय आवश्यकताओ की परिधि से ऊपर उठने की आवश्यकता है। हम साहित्य के आकाश मे क्षितिज के पास के रक्तिम वर्ण ही को न देखें, सम्पूर्ण सौरमंडल और उसके अपार विस्तार, अगणित रंग-रूप के भी दर्शन करे। साहित्य की शब्दावली मे हम क्षणिक यथार्थ को ग्रहण करने मे लगकर वास्तविक यथार्थ का तिरस्कार न करे जो विविध आदर्शों से सुसज्जित है। हम साहित्य और जीवन का सम्बन्ध अत्यन्त व्यापक अर्थ मे माने। देश और काल की सुविधा के ही मोह मे न पडे।

साहित्य के साथ जीवन का संबंध स्थापित करने का आग्रह यूरोप मे पिछली बार फ्रेंच राज्य-क्राति के उपरात किया गया और हमारे देश मे, आधुनिक रूप मे, यह अभी कल की वस्तु है। इँगलैंड मे वर्डसवर्थ और फ्रास मे विक्टर ह्यूगो आदि साहित्यकार इस विचार-शैली के आविर्भाव करनेवालो मे से है। प्रारंभ मे इसका रूप अत्यंत समीचीन था। यूरोप का मध्यकालीन जीवन अस्तंगत हो गया था। उसके स्थान मे नवीन जीवन का उदय हुआ था, जिसके मूल मे बडी ही सरल और सात्त्विक भावनाएँ थी। नवीन जीवन के उपयुक्त ही नवीन समाज का विकास हुआ और इसी विकास के अनुकूल साहित्य मे भी प्रकृति-प्रेम, सरल जीवन आदि की भावनाएँ देख पडी। यहाँ तक कृत्रिमता किंचित् नही थी। अङ्गरेजी साहित्य मे मेथ्यू आर्नल्ड और वाल्टर पेटर जैसे दो समीक्षक—एक जीवन-पक्ष पर स्थिर होकर और दूसरा कला अथवा सौंदर्य पक्ष पर मुग्ध होकर—समान रीति से कवियो की प्रशंसा कर सकते थे। परन्तु बहुत दिन ऐसे नही रह सके। शीघ्र ही यूरोप मे राष्ट्रीयता और प्रादेशिक भावनाओ का विस्तार हुआ और रूस मे समाज-संबधी शक्तिशालिनी उत्क्रान्ति हुई। रूसी साहित्य को वहाँ के समाज-वाद की सेवा मे उपस्थित होना पडा, जिसके कारण उसकी स्वतन्त्रता बनी न रह सकी। साहित्य अधिकांश मे राष्ट्र के सामाजिक और राजनीतिक संघटनो का प्रयोग-साधन बन गया। नवीन युग की नवीन

वस्तु के रूप में उसको बाज़ार अच्छा मिला और आज उसका सिक्का यूरोप ही नही भारत मे भी धडाके से चल रहा है। परन्तु इतना तो स्पष्ट है कि इस रूप मे साहित्य परतंत्र सामयिक जीवन की बँधी हुई लीक मे चलने को बाध्य किया गया है। साहित्य और जीवन का स्वभाव-सिद्ध संबंध सर्वथा मंगलमय है, पर क्या इस प्रकार का संबंध स्वभावसिद्ध कहा जा सकता है? जीवन की स्वच्छंद धारा ही जहाँ बँधी हुई है वहाँ साहित्य तो शिकंजे मे जकडा ही रहेगा। आज साहित्य और जीवन का संबंध जोडने के बहाने साहित्य को मिथ्या यथार्थ की जिस अँधेरी गली में ले चलने का उपक्रम किया जाता है, हम उसकी निन्दा करते है।

साहित्य और जीवन का संबंध जोडने के सिलसिले मे समीक्षको ने साहित्यकार के व्यक्तिगत बाह्य जीवन से भी परिचित होने की परिपाटी निकाली। यातायात के सुलभ साधनो के रहते, सम्मिलन के सभी सुभीते थे। बस साहित्यकार को भी पब्लिकमैन बना दिया गया। साहित्यालोचन की जो पुस्तके निकलीं उनमे यह आग्रह किया गया कि साहित्यकार की व्यक्तिगत जीवनी का परिचय प्राप्त किए विना उसके मस्तिष्क और कला का विकास समझ मे नही आ सकता। ऐतिहासिक अनुसन्धानो के इस युग मे यदि कवियो और लेखकों का अन्वेषण किया गया तो कुछ अनुचित नही। इस प्रणाली से बहुत से लाभ भी हुए। मस्तिष्क और कला के विकास का पता चला। बहुत से पाषडी प्रकाश में आए। परन्तु जीवन इतना रहस्यमय और अज्ञेय है और परिस्थितियाँ इतनी बहुमुखी हैं कि इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूक्ष्म-दृष्टि की आवश्यकता है, नही तो एक कलकतिया सम्पादकजी की तरह 'सैनिक' और 'साहित्यिक' तथा 'आनन्दभवन' और 'शातिनिकेतन' के बीच मे ही अटक रहने का भय है। 'सैनिक' होने से ही कोई साहित्य-समीक्षक की सराहना का अधिकारी नही बन सकता, क्योकि 'सैनिक' बनने का पुरस्कार उसे जनता के साधुवाद अथवा व्यवस्था-सभा के सभासद आदि के रूप मे

प्राप्त हो चुका है। साहित्यिक दृष्टिसे 'सैनिकत्व' का स्वतः कोई महत्त्व नही। 'सैनिकत्व'—इस शब्द का जो अन्तरङ्ग है, साहित्य के भीतर से सैनिक की आत्मा का जो प्रकाश है, वह हमारी स्तुति का विषय बनना चाहिए। साहित्य और जीवन का यह सम्बन्ध है जिसको हम साहित्य-समीक्षा की एक स्थायी कसौटी बना सकते है, पर हिन्दी मे लोग ऐसा नही करते। इसका हमे दुःख है। अंग्रेजी साहित्यसमीक्षा मे वह व्यक्तिगत चरित-चित्रण की परिपाटी काफी समय तक चली, पर हाल मे इसका प्रयोग कम पड रहा है और शायद इसका त्याग किया जा रहा है। जीवन की जटिल अज्ञेयता से परिचित हो जाने पर साधारण असूक्ष्म-दृष्टि आलोचक इस मार्मिक प्रणाली का त्याग कर दे, यह अच्छा ही है, नही तो साहित्य मे बडा विषम भाव और बडा विद्वेष फैलने की आशंका है।

साहित्यकार को जीवन के सम्बन्ध मे स्वतंत्र विचार रखने और भिन्न भिन्न साहित्य-सरणियो मे चलने के अधिक से अधिक अधिकार मिलने चाहिएँ। उसके अध्ययन, उसकी परिस्थिति और उसके विकास को हम सामयिक आवश्यकताओ और उस सम्बन्ध की अपनी धारणाओ से नही परख सकते। हमे उसकी दृष्टि से देखना और उसकी अनुभूतियो से सहानुभूति रखना सीखना होगा। हम कवियो और लेखको के नैतिक और चरित्र-सम्बन्धी स्खलन ही न देखे, प्रचलित सामाजिक अथवा राजनीतिक कार्यक्रम से उनकी तटस्थता की ही निन्दा न करे, यदि वास्तव मे उन्होने अपनी साहित्य सृष्टि द्वारा नवीन शैली, नवीन सौन्दर्य-कल्पना और भव्य भाव-जगत् की रचना की है। महाकवि रवीद्रनाथ ठाकुर के महर्षित्व पर नवयुवक बङ्गालियो ने विकट विकट आक्षेप किए है और वर्तमान राजनीति मे सक्रिय भाग न लेने के कारण उनके विरुद्ध कठोर व्यंग्यो की भी झडी लगी है, पर क्या साहित्यिकसमीक्षा की अब ये ही प्रणालियाँ रह जायेगी? जिस देश के दर्शन-शास्त्र गोचर क्रिया को विशेष महत्त्व नही देते और चेतन-शक्ति पर विश्वास करते है, उसमे महाकवि रवीद्रनाथ को इससे अच्छा पुरस्कार मिलना चाहिए। रवि बाबू

स्वदेश-प्रेम को संपूर्ण मनुष्यता और विश्व-प्रेम के धरातल पर उठाकर रखने मे समर्थ हुए है, उन्होने स्वदेश की प्रादेशिक सीमा के जडत्त्व का नाश किया है—अपनी उदार अनुभूतियों और अपनी विराट् कल्पना की सहायता से उन्होने संसार की शांति और साम्य के लिये एक व्यापक आदर्श की सृष्टि की है जिसकी सम्भावनाएँ भविष्य मे अपार हैं। इसके लिये यदि हम उनके कृतज्ञ नही होते और यह जरूरी समझते है कि वे जनता के नेता का रूप धारण करे तो यह हमारी ही संकीर्ण भावना है जो हमे प्रकृति की अनेकरूपता को समझने नही देती।

साहित्य और जीवन मे घनिष्ठ से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने पर भी दोनो मे अंतर रहेगा ही। जीवन तो एक धारा-प्रवाह है, साहित्य मे उसकी प्राणदायिनी और रमणीय बूँदे एकत्र की जाती है। जीवन के अनंत आकाश मे साहित्य के विविध नक्षत्र आलोक वितरण करते है। सामयिक जीवन तो अनेक नियमित-अनियमित, ज्ञात-अज्ञात घटनावली का समष्टि रूप है, साहित्य मे कुछ नियम भी अपेक्षित है। यह अवश्य है कि हम जिस हवा मे साँस लेते हैं, प्रत्येक क्षण उसके परमाणु हममे प्रवेश पाते हैं, तथापि हमारा साहित्य केवल उन परमाणुओ का संग्रह होकर ही नही रह सकता। प्रत्येक सभ्य और प्रतिभाशाली मनुष्य वर्तमान मे रहता हुआ अतीत और भविष्य मे भी रहता है। साहित्यकार के लिये तो ऐसा और भी स्वाभाविक है। महान् कलाकार तो देश और काल की सीमा भंग करने मे ही सुख मानते है और सार्वभौम समाज के प्रतिनिधि बनकर रहते हैं। सामयिक जीवन का उनके लिये उतना ही महत्त्व है जितना वह उनके विराट्, सर्वकालीन यथार्थ जीवन की कल्पना मे सहायक बन सकता है। निश्चय ही यह महान् कलाकारो की बात कही जा रही है।

साहित्यकला की कुछ ऐसी सुष्ठु, प्रभावशाली और सुन्दर विशेषताएँ है जो जीवन के स्थूल यथार्थ से मेल नही खाती। साहित्य मे 'राम' और 'कृष्ण' चिर-सुन्दर अंकित किए गए है, कलाओ मे

उनके चित्र भी वैसे ही मिलते है, पर जीवन मे तो वे वैसे नही रहे होगे। साहित्य की अतिशयोक्तियाँ, इन्द्र-धनुष सी, जीवन के स्थूल, अकाल्पनिक, रूखे अस्तित्त्व को मनोरम बना देती हैं। साहित्य मे मनुष्य का जीवन ही नही, जीवन की वे कामनाएँ जो अनंत जीवन मे भी पूरी नही हो सकती, निहित रहती है। जीवन यदि मनुष्यता की अभिव्यक्ति है तो साहित्य मे उस अभिव्यक्ति की आशा-उत्कंठा भी सम्मिलित है। जीवन यदि सम्पूर्णता से रहित है तो साहित्य उसके सहित है। तभी तो उसका नाम साहित्य है। तभी तो साहित्य जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है।

—

(४)

कविता और 'शृङ्गार'

ले०—प० पद्मसिंह शर्मा 'साहित्याचार्य

बहुत से महापुरुष कविता की उपयोगिता का स्वीकार तो किसी प्रकार करते है, पर शृङ्गार-रस उनके निर्मल नेत्रो मे कुछ खार सा या तेज़ तेजाब सा खटकता है, वह शृङ्गार की रसीली लता को विषैली समझ कर कविता-वाटिका से एकदम जड से उखाड फेंकने पर तुले खडे है, उनकी शुभ सम्मति मे शृङ्गार ही सब अनर्थों की जड है, शृङ्गार-रस के 'अश्लील' काव्यो ने ही संसार मे अनाचार और दुराचार का प्रचार किया है, शृङ्गार के साहित्य का संसार से यदि आज सहार कर दिया जाय तो सदाचार का संचार सर्वत्र अनायास हो जाय, फिर संसार के सदाचारी और ब्रह्मचारी बनने मे कुछ भी देर न लगे।

कई महानुभाव तो भारतवर्ष की इस वर्तमान अधोगति के 'श्रेय का सेहरा' भी शृङ्गार के सिर पर ही बाँधते है! उनकी समझ मे शृङ्गार-रस ही की मूसलाधार अति-वृष्टि ने देश को डुबोकर रसातल पहुँचाया है।

ठीक है, अपनी अपनी समझ ही तो है, इस विचार के लोग भी तो हैं जो कहते है कि वेदात के विचार—उपनिषदो मे वर्णित अध्यात्म भावो के प्रचार ने ही देश को अकर्मण्य, पुंसत्व-विहीन और जाति को हीन दीन बनाकर वर्तमान दशा मे पहुँचाया है! फिर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के विरोधियो की भी कुछ कमी नही है, वह इस शिक्षा को ही सब अनर्थों की जननी जानकर धिक्कार रहे है। यदि यह पिछले मत ठीक है, तो पहला भी ठीक हो सकता है। जब अन्तिम रस (शान्त) संसार

की अशान्ति का कारण हो सकता है तो आदिम (श्रृङ्गार) भी अनर्थ का मूल सही। पर तनिक ध्यान देकर देखा जाय तो अपनी अपनी जगह सब ठीक है—

"गुल हाय रँगा रंग से है जीन ते चमन।
ऐ 'ज़ौक़' इस जहाँ को है ज़ेब इख्तलाफ़ से॥"

पदार्थ-वैचित्र्य के साथ रुचि-वैचित्र्य भी सदा से है और सदा रहेगा। यह विवाद कुछ आज का नही, बहुत पुराना है। पहले यहाँ श्रृङ्गार-रस-प्राधान्य-वादियों का एक पक्ष था, उसका मत था कि श्रृङ्गार ही एक रस है, वीर, अद्भुत आदि मे रस की प्रसिद्धि गतानुगतिकता की अन्धपरम्परा से यो ही हो गयी है। इस मत के समर्थन मे सुप्रसिद्ध भोजदेव ने "श्रृङ्गार-प्रकाश" नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसका उल्लेख विद्याधर ने अपनी "एकावली" के रस प्रकरण मे इस प्रकार किया है—

"राजा तु श्रृङ्गारमेकमेव" 'श्रृङ्गारप्रकाशे'
रसमुररीचकार

यथा—"वीराद्भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
सिद्धाकुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति।
लोके गतानुगतिकत्व वशादुपेता—
मेता निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः॥
श्रृङ्गार-वीर-करुणाद्भुत-हास्य-रौद्र—
वीभत्स-वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः।
आम्नासिषुर्दश रसाम् सुधियो वयन्तु
श्रृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः॥"

+ + +

इसी प्रकार एक दूसरा पक्ष था, जो श्रृङ्गार को एकदम अव्यवहार्य समझता था, वह केवल श्रृङ्गार का ही नही, श्रृङ्गार-वर्णन के कारण

काव्य-रचना ही का विरोधी था। उसकी आज्ञा थी —

"असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्य काव्यम्।"

\+ \+ \+

अर्थात् असभ्य-अश्लील अर्थ का प्रतिपादक होने के कारण काव्य का उपदेश, काव्यरचना, नही करना चाहिए।

इसके उत्तर मे काव्य-मीमासा के आचार्य कविकुलशेखर 'राजशेखर' कहते है कि—

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनोय एवायमर्थ.।"

\+ \+ \+

अर्थात् क्रम-प्राप्त ऐसे विषय-विशेष का वर्णन अपरिहार्य है, वह होना ही चाहिए, वह काव्य का एक अङ्ग है. प्रकरण म पडी बात कैसे छोडी जा सकती है? जो बात जैसी है कवि उसका वैसा वर्णन करने के लिये विवश है। शृङ्गार की सामग्री तत्सम्बन्धी नाना प्रकार के दृश्य जब जगत् मे प्रचुर परिमाण मे सर्वत्र प्रस्तुत है, तब कवि उनकी ओर से आँखे कैसे बन्द कर ले? तद्विषयक वर्णन क्यो न करे फिर कवि ही ऐसा करते हो, केवल वही इस 'असभ्याभिधान' अपराध के अपराधी हो, यह बात भी तो नही, राजशेखर कहते है—

"तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते"

\+ \+ \+

इस प्रकार का वर्णन—जिसे तुम असभ्य और अश्लील कहते हो, श्रुतियो मे और शास्त्रो मे भी तो पाया जाता है।

इसके आगे कुछ श्रुतियाँ और शास्त्रवचन उद्धृत करके राजशेखर ने अपने उक्त मत की पुष्टि की है। उनके उद्धृत वचनो के आगे कवियो के 'अश्लील' वर्णन भी लज्जा से मुँह छिपाते है।

वास्तव मे देखा जाय तो कवियो पर असभ्यता या अश्लीलता के प्रचार का दोषारोपण करना उनके साथ अन्याय करना है। कवियो ने

अश्लीलता को स्वयं दोष मानकर उससे बचे रहने का उपदेश दिया है, काव्य-दोषो मे अश्लीलता एक मुख्य दोष माना गया है फिर कवि अश्लीलता का उपदेश देने के लिये काव्य-रचना करे, यह कैसे माना जा सकता है !

शृङ्गार-रस के काव्यो मे परकीया आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश मे ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनो से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि-सम्पन्न बनाने से नही होता, ऐसे प्रसंग पढकर धूर्त विटों की गूढ लीलाओ के दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय मे सतर्क रहे, यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढङ्ग से कही है—

> "नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्या।
> कर्त्तव्यतयान्येषा न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
> किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
> आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥'

+ + +

रुचिभेद और अवस्था-भेद से काव्यों के कुछ वर्णन किन्ही विशेष व्यक्तियो को अनुचित प्रतीत हो, यह और बात है, इससे ऐसे काव्य की अनुपयोगिता सिद्ध नहीं होती, अधिकारिभेद की व्यवस्था सब जगह समान है, काव्य-शास्त्र भी इसका अपवाद नही है ; कौन कहता है कि वृद्ध जिज्ञासु, बाल-ब्रह्मचारी, मुमुक्षु यति और जीवन्मुक्त संन्यासी भी काव्य के ऐसे प्रसङ्गो को अवश्य पढ़े। ऐसे पुरुष काव्य के अधिकारी नही हैं। फिर यह भी कोई बात नही है कि जो चीज इनके लिये अच्छी नही है वह औरो के लिये भी अच्छी न हो, इनकी रुचि को सब की रुचि का आदर्श मानकर संसार का काम कैसे चल सकता है ?

काव्यो के विषय की आप लाख निन्दा कीजिये, अश्लील और गन्दे बतलाकर उनके विरुद्ध कितना ही आन्दोलन कीजिये पर जब तक चटपटी भाषा का चटखारा सहृदय समाज से नही छूटता—जिसका छूटना असम्भव नही तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, सहृदयता के साथ इसका बडा गहरा अटूट सम्बन्ध है—तब तक काव्यो का प्रचार रुक नही सकता, बड़े बड़े सुरुचि-संचारक और प्रचारको और धार्मिक उपदेशको तक को देखा गया है कि श्रोताओ पर अपनी वक्तृता का रंग जमाने के लिये उन्हे भी काव्यो की लच्छेदार भाषा और सुन्दर सूक्तियो, अनोखी अन्योक्तियो का बीच बीच मे सहारा लेना ही पडता है, अच्छी भाषा पढ़ने सुनने का लोगो का 'दुर्व्यसन' भी हमारे सुधारको के काव्य-विरोध-विषयक प्रयत्नो को अधिकाश मे निष्फल कर देता है। ईश्वर करे यह 'दुर्व्यसन' बना रहे।

यह समझना एक भारी भ्रम है कि काव्यों के पढ़नेवाले अवश्य ही कुरुचि-सम्पन्न लोग होते है, शृङ्गार रस की चाशनी चखने की स्वाभाविक रुचि ही काव्यो की ओर पाठको को नही खीचती, भाषा के माधुर्य की चाट भी कुछ कम नही होती !

चाहे अपने मत से इसे देश का 'दुर्भाग्य' ही समझिए कि हमारे कवियो ने प्रकाश के देवता से अन्धकार का काम क्यो लिया, ऐसी सुन्दर भाषा का 'दुरुपयोग' ऐसे 'भ्रष्ट' विषय के वर्णन मे क्यो कर गये ? पर जो कर गये सो कर गये, जो हो गया सो हो गया, वह समय ही कुछ ऐसा था, समाज की रुचि ही कुछ वैसी थी, और अब दुबारा ऐसे कवि यहाँ पैदा होने से रहे जो वर्तमान सभ्य समाज की सुरुचि के अनुसार सामयिक विषयों का ऐसी ललित, मधुर, परिष्कृत और फड़कती हुई, जानदार भावमयी भाषा मे वर्णन करके मुर्दादिलो मे जान डाल जायँ, सोते हुओ को जगा जायँ और जागतो को किसी काम मे लगा जायँ ! हमारी भाषा की बहार बीत गयी, अब कभी ख़त्म न होनेवाली 'ख़िज़ां'

के दिन हैं, भाषा के रसिक भौंरे कान देकर सुनें और आँख खोलकर देखे, कोई पुकार कर कह रहा है—

"जिन दिन देखे वे कुसुम गयी सु बीति बहार ।
अब अलि ! रही गुलाब की अपत कटीली डार ॥"

जिस भावहीन निर्जीव भाषा मे नीरस कर्णकटु काव्यों की आज दिन सृष्टि हो रही है, इससे सुरुचि का संचार हो चुका ! यह सहृदय समाज के हृदयो मे घर कर चुकी ! यह सूखी टहनी साहित्य-क्षेत्र मे बहुत दिन खडी न रह सकेगी । कोरे कामचलाऊपन के साथ भाषा में सरसता और टिकाऊपन भी अभीष्ट है तो इसके निस्सार शरीर में प्राचीन साहित्य के रस का संचार होना अत्यावश्यक है । विषय की दृष्टि से न सही भाषा के महत्व की दृष्टि से भी देखिए तो शृङ्गार रस के प्राचीन काव्यो की उपयोगिता कुछ कम नही है, यदि अपनी भाषा को अलंकृत करना है तो इस पुरानी काव्यवाटिका से जिसे हज़ारो चतुर मालियों ने सैकडो वर्षतक दिल के खून से सीचा है, सदा बहार फूल चुनने ही पडेंगे । कांटो के डर से रसिक भौंरा पुष्पो का प्रेम नही छोड बैठता, मकरन्द के लिये मधुमक्षिकाओ को इस चमन मे आना ही होगा, यदि वह इधर से मुँह मोडकर 'सुरुचि' के ख्याल मे स्वच्छ आकाश-पुष्पों की तलाश मे भटकेंगी तो मधु की एक बूंद से भी भेंट न हो सकेगी । हमारे सुशिक्षित समाज की 'सुरुचि' जब भाषा-विज्ञान के लिये उसी प्रकार का विदेशी साहित्य पढ़ने की आज्ञा खुशी से दे देती है तो मालूम नही अपने ही साहित्य से उसे ऐसा द्वेष क्यो है ? परमात्मा इस 'सुरुचि' से साहित्य की रक्षा करे—

"घर से बैर अपर से नाता । ऐसी बहू मत देहु विधाता ॥"

बिहारी की कविता शृङ्गारमयी कविता है, यद्यपि इसमें नीति, भक्ति, वैराग्य आदि के दोहों का भी सर्वथा अभाव नही है, इस रंग में

भी विहारी ने जो कुछ कहा है, वह परिमाण मे थोडा होने पर भी भाव-गाम्भीर्य, लोकोत्तर चमत्कार आदि गुणो मे सब से बढा चढ़ा है, ऐसे वर्णनों को पढ़ सुनकर बडे बडे नीति-धुरन्धर, भक्त-शिरोमणि और वीतराग महात्मा तक झूमते देखे गये है, फिर भी विहारी की सतसई का मुख्य विषय शृङ्गार ही है, उसमे दूसरे रसो की चाशनी "मजा मुँह का बदलने के लिये" है। जिस प्रकार सस्कृत काव्य 'अमरुक-शतक' और 'शृङ्गार-तिलक' पर कुछ भगवद्भक्त टीकाकारो ने भक्ति और वैराग्य की तिलक-छाप लगाकर उन्हे अपने मत की दीक्षा दे डाला है, इसी प्रकार किसी-किसी प्रखरबुद्धि टीकाकार ने विहारी की सतसई पर भी अपना रंग जमाने की चेष्टा की है, किसी ने उसमे से वैद्यक के नुसखे निकालने का प्रयत्न किया है, किसी ने गहरे अध्यात्म भावो की उद्भावना की है! अस्तु, विहारी-सतसई जैसी कुछ है, सहृदय कविता मर्मज्ञो के सामने है। वह न आध्यात्मिक भावो के रूप मे परिणत हो सकती है, न सामयिकता के साँचे मे ही ढाली जा सकती है। वह तो शृङ्गार मूर्तिमती ही मानी जायगी। तथापि उसकी चमत्कृति और मनोहरता मे कमी नही हुई, इसका प्रमाण इससे अधिक और क्या होगा कि समय ने समाज की रुचि बदल दी, पर वर्तमान समय के सुरुचि-सम्पन्न कविताप्रेमियो का अनुराग उस पर आज भी वैसा ही बना है; पहले पुराने ख्याल के 'खूसट' उस पर जैसे लट्टू थे आज नयी रोशनी के परवाने भी वैसे ही सौ जान से फ़िदा है। उसके तीव्र तथा स्थायी आकर्षण का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि समय समय पर अनेक कवि विद्वानो ने उस पर पद्य मे, गद्य मे, संस्कृत और हिन्दी मे टीका तिलक किये, पर वह अभी वैसी ही बनी है, उसके जौहर पूरी तरह खुलने मे नही आते, गहराई की थाह नही मिलती। पहली टीकाओ से पाठको की तृप्ति न हुई, नयी टीकाएँ बनी, फिर भी चाट बनी है कि और बनें। सतसई और उसके टीकाकारो को लक्ष्य मे रखकर ही मानो कवि ने पर्याय से यह कहा है—

"लिखन बैठि जाकी सबिहि गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥"

कोई भी टीकाकार-चितेरा अपने अनुवाद-चित्र द्वारा विहारी की कविता-कामिनी के अलौकिक लावण्यभरित भाव-सौन्दर्य को यथार्थतया अभिव्यक्त करने मे समर्थ नही हो सका, सब खाली ख़ाके खीचकर ही रह गये।

इससे बढकर शृङ्गार की महिमा और क्या होगी ? पाठक स्वयं विचार कर देख ले।

---

(५)
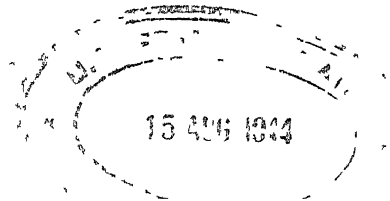
कल्पना और यथार्थ

ले०—कविवर मैथिलीशरण गुप्त

क्रमविकास के अनुसार उन्नति करता हुआ कवित्व आजकल स्वर्गीय हो उठा है। अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिये वह जो विचित्र चाप चढाने जा रहा है, हमे भी कभी कभी, मेघो के कन्धो पर चढ कर, वह अपनी झाँकी दिखा जाता है। उसे उठाने के लिये जिस सूक्ष्मता अथवा विशालता अथवा स्वर्गीयता की आवश्यकता होगी, कहते है, कवित्व उसी की साधना मे लगा हुआ है। हम हृदय से उसकी सफलता चाहते है।

उसका लक्ष्य क्या है ? हमे जब वही नही दिखाई देता तब उसके लक्ष्य की चर्चा ही क्या ?—

सम्मुख चन्द्र-चकोर है
सम्मुख मेघ-मयूर,
वह इतना ऊँचा उठा
गया दृष्टि से दूर।

परन्तु सुनते हैं, वह लक्ष्य है—"सुन्दरम्" और केवल "सुन्दरम्।" "सत्यम्" और "शिवम्" उसके पहले की बातें हैं। कवित्व के लिये अलग से उनकी साधना करने की आवश्यकता नही, औरो के लिये हो तो हो। फूल मे ही तो मूल के रस की परिणति है, फल तो उपलक्ष्य मात्र है।

कला मे उपयोगिता के पक्षपातियो से कहा जाता है कि सच्चे सौन्दर्य का विकाश होने पर अशोभन के लिये अवकाश ही नही रहता, उसकी अनुभूति से मन मे जो आनन्द की उत्पत्ति होती है उसमे विकार

कहाँ ? अपवाद तो सभी विषयो मे पाये जाते है, परन्तु फूलो मे स्वभावतः सुगन्धि ही होती है, दुर्गन्धि नही। ठीक है। परन्तु सब "फूल सूँघ कर" ही नही रह सकते और यह भी तो परीक्षित हो जाना चाहिए कि कही फूलो मे तक्षक नाग तो नही छिपा बैठा है। अनन्त सौन्दर्य के आधार श्री राधाकृष्ण की सौन्दर्य-सुमन-राशि मे भी जब हमारे प्रमाद से, उसका प्रवेश सम्भव हो गया तब औरो की बात ही क्या ?

फूल उठ आनन्द से हे फूल,
निज नवल दल-दोल पर तू झूल,
धन्य मङ्गल—मूल तेरा मूल,
तदपि फल की बात भी मत भूल।
चढ़ सुरो पर तू उन्ही के योग्य,
किन्तु भव मे फल सकल-जन-भोग्य।

कवित्व फिर भी निष्काम है। सम्भवतः वह स्वयं एक सुफल है, इसी से उसे किसी फल की अपेक्षा नही। निःसन्देह बडी ऊँची भावना है। भगवान से प्रार्थना है कि वह हम लोगों को भी इतना ऊँचा कर दे कि हम भी उसका अनुभव कर सके। कदाचित् इसी भावना ने कवित्व को स्वर्गीय होने मे सहायता दी है। परमार्थ के पीछे उसने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया है। इसीलिये वह न तो देश से आबद्ध है न काल से। सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गया है। लेखक उसके ऊपर अपने आपको निछावर कर सकता है। परन्तु वह आकाश मे है और यह पृथ्वी पर। ऐसी दशा मे उसे भक्ति-भाव से प्रणाम करके ही सन्तोष करना पडेगा।

कवित्व की यह उदारता अथवा सार्वभौमिकता बडी ही प्यारी लगती है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अपनी ही तो बात है। परन्तु हाय !

व्यर्थ विश्वमैत्री की बात,
आज दीन दुर्बल तुम तात !

यह औदार्य नही, उपहास !!
तुम्हें जानते है सब दास !!!

जो हो हमे कवित्व की क्षमता पर विश्वास है। आज भी वह निराकारों को आकार और निर्जीवों को जीवन दान कर रहा है। "सुन्दरम्" की प्राप्ति के लिये वह नये-नये पन्थो का, नई-नई गतियो का, अथवा नये-नये छन्दो का आविष्कार कर रहा है। हम तो उसके साधन पर ही मुग्ध हो गये, साध्य न जाने कैसा होगा? परन्तु सुना है कि उसका निर्माण निष्काम है। जो हो, और तो सब ठीक है, परन्तु एक कठिनाई है। वह यह है कि सार्वदेशिक होने पर भी वह एकदेशीय रसिको के ही उपभोग के योग्य कहा जाता है।

एक बात और है। सोने का पानी चढ़ा देने से ही सब पदार्थ सोने के नही हो जाते। कभी कभी उनकी चमक दमक असल से भी कुछ अधिक दिखाई देती है। परन्तु

"निघर्षणच्छेदनतापताडनैः"

उनकी परीक्षा कर लेनी चाहिए (लेखक के लिए तो वह अवश्य ही कोई बडी बात होगी जो उसकी समझ मे नही आती।)

उसके रसिकों मे भी तो स्वर्गीय भावुकता अथवा मार्मिकता होनी चाहिए। इस संसार मे वह दुर्लभ है। एक बाधा के साथ दूसरी चिन्ता लगी हुई है। भव की भावना के अनुसार स्वर्ग भी भिन्न भिन्न प्रकार के सुने जाते हैं। सौन्दर्य के आदर्श अलग-अलग हैं। अपने घर मे ही देखिए न। एक महानुभाव को खद्दर मे कुरूपता दिखाई देती है। कला की कुशलता का अभाव तो स्पष्ट ही है। उधर दूसरे महापुरुष को उसमे भूखों का भोजन और रुग्णो का आरोग्य दिखाई देता है। जीवन की सरलता का कहना ही क्या? यदि सौन्दर्य स्वयं एक बडा भारी गुण है तो गुण भी स्वयं एक बडा भारी सौन्दर्य है। हमारे लिए ये दोनो ही वदान्य और मान्य हैं। एक महाकवि है और दूसरा महात्मा।

इस यन्त्रो के युग में "हाथकते" और "हाथबुने" मे सचमुच सौन्दर्य दुर्लभ है । जहा है भी वहा वह बहुत मँहगा पडता है । फिर सर्व साधा ण का शौक कैसे पूग हो ? शौक रहन दीजिए, पहले सर्वसाधारण की क्षुधा-निवृत्ति और लज्ज की रक्षा तो हो जाय। इन यन्त्रो ने ही तो इतनी विपमता फैलाई है । सम्भवत. इसीलिए मनु ने—'महायन्त्र-प्रवर्तनम्'—बडे यन्त्रो के प्रचार को एक प्रकार का पाप बताया है ।

तथापि वह प प उत्पन्न हो ही गया और संसार मे फैल भी गया । यहाँ कलियुग पहले ही से फैला हुआ है । ऐसी दशा में "स्वदेशी' को छोड कर कान सी गति है ? परन्तु स्वदेशी से कवित्व की विश्वभावना जो भङ्ग हो जाती है ! राम राम ! फिर वही सङ्कीर्णता !

कवित्व ही इसका उपाय सोचेगा । ससार के सम्मिलित स्वर्ग की कल्पना का भार भी उसी पर छोड देना चाहिए। वही हमे विश्व के सौन्दर्य-स्वर्ग का अनुभव करा सकता है। क्योंकि वह हमे लोकोत्तर आनन्द देता रहा है ।

परन्तु हम अपना भय प्रकट कर देना उचित समझते है । स्वर्ग की वह भावना ऐसी न हो कि ससार अचल हो जाय। विशेष कर जब तक संसार ससार है ।

महाभारतीय युद्ध के समय, कुरुक्षेत्र मे अर्जुन को जो करुणा और ममता उत्पन्न हुई थी वह भी एक स्वर्ग की भावना थी। ईश्वर न करे कि कभी फिर कोई महाभारत का सा प्रसङ्ग उठ खडा हो । परन्तु संसार मे उससे भी बडा महाभारत हो चुका है । इसलिए ऐसे प्रसङ्ग पर अर्जुन का मोह देखकर, सौन्दर्य-लोभी कवित्व उससे

> विपम वेला मे तुझको, ओह !
> कहाँ से उपजा यह व्यामोह ?

कहने के बदले कहीं स्वयं मोह से ही यह न कह उठे कि—

> कहाँ ओ कम्पित पुलकित मोह ?
> अरे हट, किन्तु ठहर जा ओह !

देख लूं क्षण भर तेरा रूप,
सगद्गद् रोम रोम रसकूप ?

अर्जुन की वह ममता स्वर्गीय थी तो वह सहृदयता, मार्मिकता अथवा सौन्दर्योपासना भी स्वर्गीय है !

अर्जुन की ममता करुणा, अथवा उदारता स्वर्गीय न होती तो वह कैसे अपने राज्य हरने—और उससे भी अधिक अपनी पत्नी पाञ्चाली का अपमान करने वालो को अयाचित क्षमा प्रदान करने को तैयार हो जाता। उसने तो यहाँ तक कह दिया था कि—

मुझ निरस्त्र को अस्त्र समेन,
मारे धार्तराष्ट्र समवेत।
करूँ न मै उनका प्रतिकार,
तो मेरा कल्याण अपार !

बौद्धो की क्षमा भी इसी प्रकार की थी। जातको मे हमे ऐसे उदाहरण भी मिलते है कि महानुभावो ने दारापहारी आततायियो को भी क्षमा कर दिया है। ईश्वरात्मज प्रभु यीशु भी हमे स्वर्ग का सन्देश सुना गये है कि यदि कोई तुम्हारे एक गाल पर थप्पड मारे तो तुरन्त दूसरा गाल उसके सामने कर दो। परन्तु उनके अनुयायियो ने ही सर्वापेक्षा इसकी उपेक्षा की है। स्वयं भगवान परस्वापहारियो के प्रति अर्जुन के इस भाव को "अस्वर्ग्य" समझते है—

न इसमे स्वर्ग न कीर्ति न मान,
अनार्योचित है यह अज्ञान।

दुष्ट और दस्युओ को भगवान कभी क्षमा नही कर सकते !

'जो नहि करो दण्ड खल तोरा,
भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।"

क्योकि—

"धर्म संरक्षणार्थैव प्रवृत्तिर्भुवि शार्गिण.।"

शार्ङ्गधर धर्म की रक्षा के लिये ही धरती पर अवतीर्ण होते है। किसी समय वे आयुध न भी धारण करें, परन्तु अपना काम करते रहते हैं। सव्यसाची तो निमित्त मात्र है—

"निमित्तमात्रम् भव सव्यसाचिन्"

सो पाठक, कवित्व भले ही स्वर्गीय होकर स्वर्ग के सौन्दर्य का आनन्द लूटे, परन्तु जब तक यह ससार स्वर्ग नही हो जाता तब तक हम सासारिक ही रहेगे। चाहते तो हम भी वही है पर हमारे चाहने से ही क्या होगा ?

नर चेती नहिँ होत है,
प्रभु चेती तत्काल।
बलि चाह्यो आकाश को,
हरि पठयो पाताल॥

कौन नही जानता कि कलह किंवा युद्ध अनीव अनर्थकारी है। परन्तु जब तक यह जीवन सन्धि के बदले संग्राम बना हुआ है तब तक इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि —

"क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोतिष्ठ परन्तप !"

हमने "अहिसा परमोधर्मः" धारण करके अपनी दिग्विजय से हाथ खींच लिये, परन्तु दूसरो ने हम पर आक्रमण करना न छोडा। हम किसी की हिंसा नही करना चाहते, परन्तु हमारी भी तो कोई हत्या न करे। तथापि हुआ यही, हमारी अतिरिक्त करुणा ने हमे दूसरो के समक्ष दुर्बल बना दिया। हमने हथियार रख कर उठने बैठने का स्थान धीरे से झाड देने के लिये एक प्रकार की मृदुल मार्जनी धारण कर ली, जिसमे कोई जीव हमारे नीचे दब न जाय, परन्तु दूसरो ने हथियार न रक्खे और स्वयं हमी दबा लिये गये। हमारी गो-रक्षा की अति ने विपक्षियो की सेना के सामने गायो को खडा देखकर शस्त्र-सन्धान करना स्वीकार न किया, परन्तु इसमे न गायो की रक्षा हुई और न हमारी, जो उसके

रक्षक थे। विधर्मियो ने गाँव के एक मात्र कुएँ मे थूक दिया, बस वह गाँव ही अहिन्दू हो गया !

ऐसी अवस्था मे कवित्व हमे क्या उपदेश देगा ? उपदेश देना उसका काम नही। न सही, परन्तु आपत्ति-काल मे मर्यादा का विचार नही रहता और क्या सचमुच कवित्व उपदेश नही देता ?

भोजन का उद्देश क्षुधा निवृत्ति और शरीर-पोषण है। उससे रसना का आनन्द भी मिलता है। परन्तु हमारी रसना-लोलुपता इतनी बढ़ गई है कि हम भोजन में बहुधा उसी का ध्यान रखते है। फल उलटा होता है। शरीर का पोषण न होकर उलटा उसका शोषण होता है। क्योकि पथ्य प्रायः रुचिकर नही होता। शरीर के समान ही मन की भी दशा समझिए। मन महाराज तो पथ्य की ओर दृष्टि भी नही डालना चाहते। लाख उपदेश दीजिये, जब तक पथ्य मधुर किंवा रुचिकर नही होता तब तक वे उसे छूने के नही। कवित्व ही उनके पथ्य को मधुर बना कर परोस सकता है।

काव्य-कुसुम-कलिका देकर ही
कला-केतकी है कृतकार्य,
किन्तु कवित्व-रसाल सुफल की
आशा है तुझसे अनिवार्य।

परन्तु हमारे कवित्व का ध्यान इस समय दूसरी ओर चला गया है। इस संसार को छोडकर वह स्वर्ग की सीमा मे प्रवेश कर रहा है। क्या अच्छा होता कि वह हमे भी साथ लेकर चलता ! परन्तु हमारा उतना पुण्य नहीं। कवित्व इन्द्रधनुष लेकर अपना लक्ष्य भेदन कर सकता है। परन्तु हम पार्थिव प्राणियो को पार्थिव साधनो का ही सहारा लेना पडेगा और इसके लिये न तो किसी दूसरे पर ईर्ष्या करनी पडेगी न अपने ऊपर घृणा। जो साधन भगवान् ने दया करके हमें प्रदान किये है उन्ही को बहुत समझकर स्वीकार करना होगा। परन्तु लज्जा यही है कि हम उन्ही का यथोचित उपयोग नही कर सकते।

कवित्व स्वच्छन्दता पूर्वक स्वर्ग के छायापथ पर आनन्द से गुनगुनाता हुआ विचरण करे, अथवा वह स्वर्गङ्गा के निर्मल प्रवाह मे निमग्न होकर अपने पृथ्वीतल के पापो का प्रक्षालन करे, लेखक उसे आयत्त करने की चेष्टा नही करता। उसकी तुच्छ तुकबन्दी सीधे मार्ग से चलती हुई राष्ट्र किंवा जाति-गङ्गा मे ही एक डुबकी लगाकर "हरगङ्गा" गा सके तो वह इतने से ही कृतकृत्य हो जायगा। कही उसमें कुछ बातो का उल्लेख भी हो जाय तो फिर कहना ही क्या ?

कवित्व के उपासको से यही प्रार्थना है कि वे उसकी सीमा इतनी संकुचित न कर दे कि नवीन दृष्टि से विचार करने पर पुरानी रचनाएं तुकबन्दियो के सिवा और कुछ न रह जायँ।

यदि हम किसी निबन्ध की एक-एक पंक्ति मे रस की खोज करने लगेगे तो काव्यो की तो बात ही क्या महाकाव्यो को भी अपना स्थान छोडने के लिए बाध्य होना पडेगा। एक-एक पत्ते मे फूल खोजने की चेष्टा व्यर्थ होगी और ऐसे फूलो का कोई मूल्य भी न रह जायगा। फूल के साथ पत्ता भी रहता ही है और सच पूछिए तो पत्तियो के बीच मे ही वह खिलता है।

शरीर की उपेक्षा करके हम आत्मा की उपेक्षा नही कर सकते। शरीर मे ही हमें उसके दर्शन हो सकते है।

कवित्व से उसे इतना ही कहना है कि ऊपर केवल स्वर्गङ्गा और स्वर्ग ही नही, वैतरणी और नरक भी हैं! स्वर्ग और नरक उलटे होकर भी ३६ के अङ्को के समान पास ही पास रहते है, अतएव सावधान! अपने रूप को न भूलना। तुम स्वयं असाधारण हो—

केवल भावमयी कला,
ध्वनिमय है संगीत,
भाव और ध्वनि मय उभय,
जय कवित्व नय-नीति।

———

शब्द-माधुरी

ले०—पं० कृष्णबिहारी मिश्र बी० ए० एल-एल० बी०

झांझ-मृदंग से भी शब्द ही निकलता है और मनुष्य-पशु आदि जो कुछ बोलते है, वह भी शब्द ही है। मनुष्यो के शब्दो मे भी विभिन्नता है। सब देशो के मनुष्य एक ही प्रकार के शब्दो द्वारा अपने भाव प्रकट नही करते। भाषा शब्दो से बनी है। अतएव संसार मे भाषाएँ भी अनेक प्रकार की है और उनके बोलनेवाले केवल अपनी ही भाषा बिना सीखे समझ सकते है, दूसरो की नही। प्रत्येक भाषा-भाषी मनुष्य अपने अपने भाषा-भंडार के कुछ शब्दो को कर्कश तथा कुछ को मधुर समझते है।

'मधुर'-शब्द लाक्षणिक है। मधुरता गुण की पहचान जिह्वा से होती है। शक्कर का एक कण जीभ पर पहुँचा नही कि उसने बतला दिया, यह मीठा है। पर शब्द तो चक्खा नहीं जा सकता। फिर उसकी मिठाई से क्या मतलब ? मतलब यह कि जिस प्रकार कोई वस्तु जीभ को एक विशेष आनन्द पहुँचाने के कारण मीठी कहलाती है, उसी प्रकार कोई ऐसा शब्द, जो कान मे पडने पर आनंदप्रद होता है, 'मधुर' कहा जायगा।

शब्द-मधुरिमा का एकमात्र साक्षी कान है। कान के बिना शब्द-मधुरिमा का निर्णय हो ही नही सकता। अतएव कौन शब्द मधुर है और कौन नही, यह जानने के लिये हमे कानो की शरण लेनी चाहिए। ईश्वर का यह अपूर्व नियम है कि इस इन्द्रिय-ज्ञान और विवेचन मे उसने सब मनुष्यो मे एकता स्थापित कर रक्खी है। अपवादो की बात जाने दीजिए, तो यह मानना पडेगा कि मीठी वस्तु संसार के सभी

मनुष्यों को अच्छी लगती है। उसी प्रकार सुगंध-दुर्गंध आदि का हाल है। कानो से सुने जानेवाले शब्दों का भी यही हाल है। अफ्रीका के एक हब्शी को जिस प्रकार शहद मीठा लगेगा, उसी प्रकार आयर्लैंड के एक आयरिश को भी। ठीक यही दशा शब्दों की है। कैसा ही क्यों न हो बालक का तोतला बोल मनुष्यमात्र के कानो को भला लगता है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री का स्वर विशेष रमणीयता रखता है। कोयल का शब्द क्यो मीठा है और कौवे का क्यो कर्कश, इसका कारण तो कान ही बता सकते है। जंगल मे जो वायु पोले बाँसो मे भरकर अद्भुत शब्द उत्पन्न करती है, उसी वायु से कंपमान वृक्ष भी हहर-हहर शब्द करते है। फिर क्या कारण है, जो बासोवाला स्वर कानो को सुखद है और दूसरे स्वर मे वह बात नही है? हमे प्रकृति मे ऐसे ही नाना भाँति के शब्द मिला करते है। इन प्रकृतिवाले शब्दों मे से जो हमे मीठे लगते है उनसे ही मिलते जुलते शब्द भाषा के भी मधुर शब्द जान पडते है। बालक के मुँह से कठिन मिले हुए शब्द आसानी से नही निकलते और जिस प्रकार के शब्द उसके मुँह से निकलते है, वे बहुत ही प्यारे लगते है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि प्रायः मीलित वर्णवाले शब्द कान को पसद नही आते। इसके विपरीत सानुस्वार, अमीलित वर्णवाले शब्दो से कर्णेन्द्रिय की तृप्ति-सी हो जाया करती है।

जिस प्रकार बहुत से शब्द मधुर है, उसी प्रकार कुछ शब्द कर्कश भी हैं। इनको सुनने से कानो को एक प्रकार का क्लेश-सा होता है। जिस भाषा मे मधुर शब्द जितने ही अधिक होगे, वह भाषा उतनी ही मधुर कही जायगी, इसके विपरीत वाली कर्कशा। परतु सदा अपनी ही भाषा बोलते रहने से, अभ्यास के कारण, उस भाषा का कर्कश शब्द भी कभी-कभी वैसा नही जान पडता और उसके प्रति अनुराग और हठ भी कभी-कभी इस प्रकार के कर्कशत्व के प्रकट किए जाने मे बाधा डालता है। अतएव यदि भाषा की मृदुलता कर्कशता का निर्णय करना हो, तो वह भाषा किसी ऐसे व्यक्ति को सुनाई जानी चाहिए, जो उसे

समझता न हो। वह पुरुष तुरंत ही उचित बात कह देगा, क्योंकि उसके कानो का पक्षपात से अभी तक बिलकुल लगाव नही होने पाया है।

मिष्टभाषी का लोक पर क्या प्रभाव पडता है, इस बात को सभी जानते हैं। जब कोई हमी मे से मधुर स्वर मे बात करता है, तो हमको अपार आनंद आता है। एक सुरूपवती स्त्री मिष्ट भाषण द्वारा अपने प्रिय पति को और भी वश मे कर लेती है। मधुर स्वर न होना उसके लिये एक त्रुटि है। एक गुणी अनजान आदमी को कर्कश स्वर मे बोलते देखकर लोग पहले उसको उजड्ड समझने लगते है। ठीक इसके विपरीत एक निर्गुणी को भी मधुर स्वर मे भाषण करते देखकर यकायक वे उसकी ओर आकर्षित हो जाते है। सभा-समाज मे वक्ता अपने मधुर स्वर से श्रोताओं का मन कुछ समय के लिये अपनी मुट्ठी मे कर लेता है और यदि वह वक्ता पं० मदनमोहन जी मालवीय के समान पंडित भी हुआ, तो फिर कहना ही क्या! सोने मे सुगंधवाली कहावत चरितार्थ होने लगती है।

घोर कलह के समय भी एक मधुरभाषी का वचन अग्नि पर पानी के छींटे का काम करता देखा गया है। निदान समाज पर मधुर भाषा का खूब प्रभाव है। लोगो ने तो इस प्रभाव को यहा तक माना है कि उसकी वशीकरण मत्र से तुलना की है। कोई कवि इसी अभिप्राय को लेकर कहता है—

कागा कासो लेत है, कोयल काको देत ?
मीठे बचन सुनाय के, जग बस मे कर लेत।

यह बात ऊपर दिखलाई जा चुकी है कि कविता के साधन शब्द है। ये शाब्दिक प्रतिनिधि कवि के विचारो को ज्यो-का-त्यो प्रकट करते है। लोक का नियम यह है कि प्रतिनिधि की योग्यता के अनुसार ही कार्य सहज हो जाता है। शब्दो की योग्यता विचार प्रकट करने का सामर्थ्य है। यह काम करने के लिये शब्दसमूह वाक्य का रूप पाता है। विचार प्रकट कर सकना वाक्य का प्रधान गुण होना चाहिए। इस गुण के बिना काम

नहीं चल सकता। इस गुण के सहायक और भी कई गुण है। उन्हीं के अन्तर्गत शब्द माधुर्य भी है। अतएव यह बात स्पष्ट है कि शब्द-माधुर्य विचार पकट कर सकनेवाले गुण की सहायता करता है। एक उदाहरण हमारे इस कथन को विशेष रूप से स्पष्ट कर देगा।

कहावत है, एक राजा के यहाँ एक कवि और वैयाकरणी पंडित साथ-ही-साथ पहुँचे। विवाद इस बात पर होने लगा कि दोनो में से कौन सुन्दरता-पूर्वक बात कर सकता है। राजा के महल के सामने एक सूखा वृक्ष लगा था। उसी को लक्ष्य करके उस पर एक-एक वाक्य बनाने के लिये उन्होने कवि एवं वैयाकरणी को आज्ञा दी। वैयाकरणी ने कहा—'शुष्कं वृक्षं तिष्ठत्यग्रे' और कवि जी के मुख से निकला—'नीरस तरुवर विलसति पुरतः।' दोनो के शब्द-प्रतिनिधि वही काम कर रहे है। दोनो ही वाक्यों मे अपेक्षित विचार प्रकट करने का सामर्थ्य भी है। फिर भी मिलान करने पर एक वाक्य दूसरे वाक्य से इस बात मे अधिक हो जाता है कि उसे कान अधिक पसंद करते हैं। इस पसंदगी का कारण खोजने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। दूसरे वाक्य की शब्द-मधुरता की शिफारिस ही इस पसंदगी का कारण है। वैयाकरणी महाराज का प्रत्येक शब्द मिला हुआ है। टवर्ग का प्रयोग एवं संधि करने से वाक्य मे एक अद्भुत बिकटता विराजमान है। इसके विपरीत दूसरे वाक्य मे एक भी मीलित शब्द नही है। टवर्ग के अक्षरो का भी अभाव है। हलन्त शब्दों के बचाने की भी चेष्टा की गई है। कानो को जो बात अप्रिय है, वह पहले मे और जो बात प्रिय है, वह दूसरे मे मौजूद है। इस गुणाधिक्य के कारण कवि की जीत अवश्यंभावी है। राजा ने भी अपने निर्णय मे कवि ही को जिताया। निदान शब्द-माधुर्य का यह गुण स्पष्ट है।

अब इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि संसार की जिन भाषाओं मे कविता होती है, उनमे भी यह गुण माना जाता है या नहीं। संस्कृत-साहित्य मे कविता का अंग ख़ूब भरपूर है। कविता

समझाने वाले ग्रथ भी बहुत है। कहना नही होगा कि इन ग्रंथो मे सर्वत्र ही माधुर्य-गुण का आदर है। संस्कृत के कवि अकेले पदों के लालित्य से भी विश्रुत हो गए है। दंडी* कवि का नाम लेते ही लोग पहले उनके पद-लालित्य का स्मरण करते है। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव जी का भी यही हाल है। कालिदास की प्रसाद-पूर्ण मधुर भाषा का सर्वत्र ही आदर है। संस्कृत के समान ही फ़ारसी मे भी शब्द-माधुरी पर ज़ोर दिया गया है।

अंगरेज़ी मे भी Language of Music का कविता पर खासा प्रभाव माना गया है†। भारतीय देशी भाषाओ मे से उर्दू मे शीरीं कलाम कहनेवालो की सर्वत्र प्रशंसा है। बँगला मे यह गुण विशेषता से पाया जाता है। मराठी के प्रसिद्ध लेखक, चिपलूणकर की सम्मति ‡

* उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्,
दण्डिन. पद लालित्य, माघो सति त्रयोगुणा ।

† The ear indeed predominates over the eye because it is more immediately affected and because the language of music blends more immediately with, and forms a more natural accompaniment to the variable and indefinite association of ideas conveyed by words—[Lectures on the English poets—Hazlitt.

‡ इसके सिवा जो और रह गई अर्थात् पद-लालित्य, मृदुल मधुरता इत्यादि, सो सब प्रकार से गौण ही है। ये सब काव्य की शोभा नि सन्देह बढाती है, पर ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि काव्य की शोभा इन्ही पर है। (निबध-मालादर्श, पृष्ठ ३१ और ३२)

उक्त गुणों को अप्रधान कहने में हमारा यह अभिप्राय कदापि नही है कि काव्य के लिये उनकी आवश्यकता ही नही है। सत्काव्य से यदि उनका सयोग हो जाय, तो उसकी रमणीयता को वे कहीं बढ़ा देते है। सर्वसाधारण के मनोरजनार्थ रत्न को जैसे कुन्दन मे खचित करना पडता है, वैसे ही काव्य को उक्त गुणों से अवश्य अलकृत करना चाहिए। (निबन्धमालादर्श, पृष्ठ ३५)

भी हमारे इस कथन के पक्ष मे है। महामति पोप (Pope)* अपने समालोचना शीर्षक निबध मे यही बात कहते है। ऐसी दशा मे यह बात सिद्ध है कि प्रायः सभी भाषाओं मे शब्द-माधुर्य काव्य-सौदर्य का सहायक माना गया है। अतएव जिस भाषा मे सहज माधुरी हो, वह कविता के लिये विशेष उपयुक्त होगी, यह बात भी निर्विवाद सिद्ध हो गई।

किसी भाषा मे कम या अधिक मधुरता, तुलना से बतलाई जा सकती है। अपनी भाषा मे वही शब्द साधारण होने पर भी दूसरी भाषा मे और दृष्टि से देखा जा सकता है। अरबी के शब्द उर्दू मे व्यवहृत होते है। अपनी भाषा में उनका प्रभाव चाहे जो हो, पर उर्दू मे वे दूसरी ही दृष्टि से देखे जायँगे। भारतवर्ष के जानवरो की पंक्ति मे आस्ट्रेलिया का कंगारू (Kangaroo) जीव कैसा लगेगा, यह तभी जान पडेगा, जब उनमे वह बिठला दिया जायगा। संस्कृत के शब्दो का संस्कृत मे व्यवहृत होना वैसी कोई असाधारण बात नही है, पर भिन्न देशी भाषाओ मे उनका प्रयोग और ही प्रकार से देखा जायगा। संस्कृत मे मीलित वर्णों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। प्राकृत मे यह बात बचाने की चेष्टा की गई है। प्राकृत संस्कृत की अपेक्षा कर्ण-मधुर है। यद्यपि पांडित्य-प्रभाव से संस्कृत मे प्राकृत की अपेक्षा कविता विशेष हुई है, पर प्राकृत की कोमलता † उस समय भी स्वीकृत थी,

---

* सब देसन मै निज प्रभाव नित प्रकृति बगारत,
विश्व-विजेतनि को शब्दहिं सो ज्य कर डारत।
शब्द-माधुरी-शक्ति प्रबल मन मानत सब नर,
जैसो है भवभूति गयो, तैसो पदमाकर।
श्री जयदेव अजौं स्वच्छन्द ललित सो भावै,
औ क्रमबिन हूँ पाठक को मति पाठ पढावै।
(समालोचनादर्श, पृष्ठ १६ और १७)

† परुसा सक्कअबधा पाउ अबधो वि होइ सुउमारो,
पुरुसमहिलाण जेत्ति अभिहतर तेत्ति अमिमाणम्। (कर्पूर-मजरी)

जिस समय संस्कृत मे कविता होती थी। इसी प्रकार तुलना की भित्ति पर ही अँगरेजी की अपेक्षा इटैलियन भाषा रसीली और मधुर है। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने इटली मे भ्रमण करके इसी माधुरी का आस्वादन किया था। इटैलियन जैसी विदेशी भाषा की शब्द-माधुरी ने ही निज देश-भाषा के कट्टर पक्षपाती मिल्टन को उस भाषा मे भी कविता करने पर बाध्य किया था।

इसी माधुरी का फारसी मे अनुभव करके उर्दू के अनेक कवियो ने फारसी मे भी कविता की है और करते है। उत्तरीय भारत की देशी भाषाओ मे भी दो-एक ऐसी है, जिनकी मधुरता लोगो को हठात् उसमे कविता करने को विवश करती है।

हिन्दी-कविता का आरंभ जिस भाषा मे हुआ वह चन्द की कविता पढने से जान पडती है। उनका पृथ्वीराजरासो काव्य हमे प्राकृत को हिन्दी से अलग होते दिखलाता है, इसके बाद ब्रजभाषा का प्रभाव बढ़ा। प्राकृत की सुकुमारता और मधुरता ब्रजभाषा के बॉट पडी थी, वरन् इसमें उसका विकाश उससे भी बढकर हुआ। ऐसी भाषा कविता के सर्वथा उपयुक्त होती है, यह ऊपर प्रतिपादित हो चुका है। निदान हिन्दी-कविता का वैभव ब्रजभाषा द्वारा बढता ही गया। समय और आश्रयदाताओ का प्रभाव भी इस ब्रजभाषा-कविता का कारण माना जा सकता है। पर सब से बडा आकर्षण भाषा की मधुरता का था और है।

"सॉकरी गली मे माय कॉकरी गडतु है"—वाली कथा भले ही झूठी हो, पर यह बात प्रत्यक्ष ही है कि फारसी के कवियो तक ने ब्रज-भाषा को सराहा और उसमे कविता करने मे अपना अहोभाग्य माना। ब्रजभाषा मे मुसलमानो के कविता करने का क्या कारण था? अवश्य ही भाषा-माधुर्य ने उन्हे भी ब्रजभाषा अपनाने को विवश किया। सौ से ऊपर मुसलमान-कवियो ने इस भाषा मे कविता की है। संस्कृत के भी बड़े-बड़े पंडितो ने संस्कृत तक का आश्रय छोडा और हिन्दी मे, इसी

गुण की बदौलत, कविता की। उधर बड़े-बड़े योरुपवासियों ने भी इसी कारण ब्रजभाषा को माना। उर्दू और ब्रजभाषा मे से किसमे अधिक मधुरता है, इसका निर्णय भलीभाँति हो चुका है। नर्तकी के मुँह से बीसो उर्दू मे कही हुई चीज़े सुनकर भी ब्रजभाषा मे कही हुई चीज़ को सुनने के लिये खास उर्दू-प्रेमी कितना आग्रह करते है यह बात किसी से छिपी नही। शृङ्गार-लोलुप श्रोता ब्रजभाषा की कविता इस कारण नही सुनते है कि वह अश्लील होने के कारण उनको आनन्द देगी, वरन् इस कारण कि उसमे एक सहज मिठास है, जिसको वे उर्दू की, शृङ्गार से सराबोर, कविता मे ढूँढने पर भी नही पाते।

एक उर्दू-कविता-प्रेमी महाशय से एक दिन हम से बातचीत हो रही थी। ये महाशय हिन्दी बिलकुल नही जानते हैं। जाति के ये भाटिए है। इनका मकान ख़ास दिल्ली मे है, पर मथुरा मे भाटियों का निवास होने से ये वहाँ भी जाया करते हैं। बातो-ही-बातो मे हमने इनसे ब्रज की बोली के विषय मे पूछा। इसका जो कुछ उत्तर उन्होने दिया, वह हम ज्यो-का-त्यो यहां दिए देते है—

"बिरज की बोली का मैं आप से क्या हाल बतलाऊँ? उसमे तो मुझे एक ऐसा रस मिलता है, जैसा और किसी भी जबान मे मिलना मुशकिल है। मथुरा मे तो ख़ैर वह बात नही है; पर हां, दिहात में नंदगाव, बरसाने वगैरह को जब हम लोग परकम्मा (परिक्रमा) में जाते हैं, वहां की लडकियो की घण्टों गुफ्तगू ही सुना करते है। निहायत ही मीठी ज़बान है।"

मातृभाषा के जैसे प्रेमी इस समय बंगाली है, वैसे भारत के अन्य कोई भी भाषाभाषी नही है। पर इन बंगालियो को भी ब्रजभाषा की मधुरता माननी पडी है। एक बार एक बंगाली बाबू—जिन्होने ब्रजभाषा की कविता कभी नही सुनी थी, हां खडी बोली की कविता से कुछ-कुछ परिचित थे, ब्रजभाषा की कविता सुनकर चकित हो गए। उन्होने हठात् यही कहा—"भला ऐसी भाषा मे आप लोगों ने कविता करना बंद

क्यो कर दिया ? यह भाषा तो बडी ही मधुर है। आजकल समाचार-पत्रो मे हम जिस भाषा मे कविता देखते है, वह तो ऐसी नही है।" बंगालियो के ब्रजभाषा-माधुर्य के कायल होने का सब से बडा प्रमाण यही है कि बॅगला-साहित्य के मुकुट श्रीमान् रवीन्द्रनाथ ठाकुर महोदय ने इस बीसवी शताब्दी तक मे ब्रजभाषा मे कविता करना अनुचित नही समझा। उन्होने अनेक पद शुद्ध ब्रजभाषा मे कहे है।

कुछ महानुभावो का कहना है कि ब्रजभाषा और खडी बोली की नीव साथ-ही-साथ पडी थी और शुरू मे भी खडी बोली जन-साधारण की भाषा थी। इस बात को इसी तरह मान लेने से दो मतलब की बाते सिद्ध हो जाती है—एक तो यह कि ब्रजभाषा बोलचाल की भाषा होने के कारण कविता की भाषा नही बनाई गई, वरन् अपने माधुर्य-गुण के कारण, दूसरे खडी बोली का प्रचार कविता मे, बोलचाल की भाषा होने पर भी, न हो सका। दूसरी बात बहुत ही आश्चर्यजनक है। भाषा के स्वाभाविक नियमो की दुहाई देने वाले इसका कोई यथार्थ कारण नही समझा पाते है। पर हम तो डरते डरते यहां कहेंगे कि यह ब्रजभाषा की प्रकृत माधुरी का ही प्रभाव था कि वही कविता के योग्य समझी गई। आजकल ब्रजभाषा मे कविता होते न देखकर डाक्टर ग्रियर्सन हिन्दी मे कविता का होना ही स्वीकार नही करते। पं० सुधाकर द्विवेदी संस्कृत के प्रकाड पण्डित होते हुए भी ब्रजभाषा-कविता मे संस्कृत-कविता से अधिक आनन्द पाते थे। खडी बोली के आचार्य पं० श्रीधर पाठक भी ब्रजभाषा की माधुरी मानते है—

"ब्रजभाषा-सरीखी रसीली वाणी को कविता-क्षेत्र से बहिष्कृत करने का विचार केवल उन हृदय-हीन अरसिको के ऊसर हृदय में उठना संभव है, जो उस भाषा के स्वरूप-ज्ञान से शून्य और उसकी सुधा के आस्वादन से बिलकुल वंचित है। क्या उसकी प्रकृत माधुरी और सहज मनोहरता नष्ट हो गई है ?"

यहाँ तक तो यह प्रतिपादित हो चुका है कि शब्दो मे भी मधुरता

है, इस मधुरता के साक्षी कान हैं, जिस भाषा मे अधिक मधुर शब्द हो उसे मधुर भाषा कहना चाहिए, कविता के लिए मधुर शब्द आवश्यक हैं एवं ब्रजभाषा बहु-सम्मति से मधुर भाषा है और माधुरी के वश उसने "सत्य पद्य-पीयूष के अक्षय स्रोत प्रवाहित किए हैं।" अब इस संबंध मे हमे एक बात और कहनी है। कविता के लिए तन्मयता की बडी ज़रूरत है। प्रिय वस्तु के द्वारा अभीष्ट-साधन आसानी से होता है। मधुर शब्दावली सभी को प्रिय लगती है। इसलिये यह बात उचित ही जान पडती है कि मधुर वाक्यावली मे बद्ध कवि-विचार अंगूर के समान सब प्रकार से अच्छे लगेंगे। अच्छे वस्त्रों मे कुरूप भी अनेकानेक दोष छिपा लेता है, पर सुन्दर की सुन्दरता तो और भी बढ जाती है। इसी प्रकार अच्छे भाव किसी भाषा मे हो, अच्छे लगेंगे; पर यदि वे मधुर भाषा मे हो, तो और भी हृदय-ग्राही हो जायँगे। भाव की उत्कृष्टता जहा होती है, वही पर सत्काव्य होता है और भाषा की मधुरता इस भावो-त्कृष्टता पर पालिश का काम देती है।

भाषा की चमचमाहट भाव को तुरन्त हृदयंगम कराती है। ब्रज-भाषा की सरस, मधुर वर्णावली में यही गुण है। यहां पर इन्हीं गुणों का उल्लेख किया गया है। जो लोग इन सब बातों को जानते हुए भी भाषा के माधुर्य-गुण को नही मानते, उनको हमें दास जी का केवल यह छन्द सुना देना है—

आक औ कनक-पात तुम जौ चबात हौ,
तौ षटरस व्यञ्जन न केहूँ भांति लटिगौ।
भूषन, बसन कीन्हो व्याल, गज-खाल को, तौ
सुबरन, साल को न पैन्हिबो उलटिगौ।
'दास' के दयाल हौ, सुरीति ही उचित तुम्हे,
लीन्ही जो कुरीति, तो तिहारो ठाट हटिगौ।
ह्वैकै जगदीश कीन्हौ बाहन वृषभ को, तौ
कहा सिव साहब गयन्दन को घटिगौ?

अंत मे हम ब्रजभाषा-कविता की मधुरता का निर्णय, सहृदयों के हृदय पर छोड इसकी प्रकृत माधुरी के कुछ उदाहरण नीचे देते हैं—

पायनि-नूपुर मंजु बजै, कटि-किंकिनि मै धुनि की मधुराई,
सावरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई।
माथे किरीट, बडे दृग चंचल, मंद हँसी मुखचंद जुन्हाई;
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्रीब्रज-दूलह, देव सहाई।

देव

ब्रज-नवतरुनि-कदंब-मुकुटमनि श्यामा आज बनी,
तरल तिलक ताटंक गंड पर, नासा जलज-मनी।
यो राजत कबरी—गूथित कच, कनक-कंज-बदनी,
चिकुर चंद्रकनि-बीच अरध बिधु मानहुँ ग्रसत फनी।

—हित हरिवंश

ब्रजभाषा मे यह गुण सहज सुलभ है। अतएव उसमे कविता करने वालो को भावोत्कृष्टता की ओर झुकना चाहिए। खडी बोली में सचमुच ही शब्द-माधुर्य की कमी है। सो उक्त भाषा मे कविता करने वालों को अपनी कविता मे यह शब्द-माधुरी लानी चाहिए।

शब्द-मधुरता हिन्दी-कविता की बपौती है। इसके तिरस्कार से कोई लाभ नही होता है। कविता-प्रेमियो को अपने इस सहज-प्राप्त गुण को लातो मार कर दूर न कर देना चाहिए। इससे कविता का कोई विशेष कल्याण नही होगा। माधुर्य और कविता का कुछ संबंध नही है, यह समझना भारी भूल है। मधुरता कविता की प्रधान सहायिका होने के कारण सर्वदैव आदरणीया है। ईश्वर करे, हमारे पूर्व-कवियो की यह थाती आज-कल के सुयोग्य भाषाभिमानी कवियो द्वारा भली भाति रक्षित रहे।

छन्द-साधना

लेखक—कविवर सुमित्रानन्दन पत

भाषा का, और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पङ्खो की अबाध उन्मुक्त उडान मे लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनि-लोक-निवासी शब्दो के हृदय मे परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक् पृथक् पदार्थ पृथक् पृथक् ध्वनियो के चित्र मात्र है। समस्त ब्रह्माण्ड के रोओं मे व्याप्त यही राग, उसकी शिरोपशिराओ मे प्रधावित हो, अनेकता मे एकता का सञ्चार करता, यही विश्व-वीणा के अगणित-तारो से जीवन की अँगुलियो के कोमल-कर्कश घात-प्रतिघातो, लघु-गुरु सम्पर्कों, ऊँच-नीच प्रहारो से अनन्त झङ्कारो, असंख्य स्वरो मे फूटफूट कर हमारे चारो ओर आनन्दाकाश के स्वरूप मे व्याप्त होजाता; यही संसार के मानस-समुद्र मे अनेकानेक इच्छाओ-आकाङ्क्षाओ, भावनाओ-कल्पनाओ की तरङ्गो मे प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ सौ स्वरूपो मे अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु मे सने, सृजन के बीजरूप पराग से परिपूर्ण संसार के मानस-शतदल के चारो ओर यह चिर-असुप्त स्वर्ण-भृंग एक अनन्त-गुञ्जार मे मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिँच कर हम शब्दो की आत्मा तक पहुँचते, हमारा हृदय उनके हृदय मे प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत-मात्र इस विश्व-व्यापी संगीत की अस्फुट झङ्कार-मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक दूसरे पर अवलम्बित है, ऋणानुबन्ध हैं, उसी प्रकार

शब्द भी हैं, ये सब एक ही विराट् परिवार के प्राणी हैं। इनका आपसका सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग-विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साडी का छोर उडकर दूसरे का हृदय रोमाञ्चित कर देता, कैसे एक की ईर्षा अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता ; कैसे ये गले लगते, बिछुडते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है? प्रत्येक शब्द एक एक कविता है, लक्ष और मल-द्वीप की तरह कविता भी अपने बनानेवाले शब्दो की कविता को खा खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमो से बद्ध होते, उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश मे पक्षियो की तरह स्वतन्त्र भी होते है। जहाँ राग की उन्मुक्त-स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियम-वश्यता मे सामञ्जस्य रहता है, वहाँ कोमल मा तथा कठोर पिता के घर मे लालित-पालित सन्तान की तरह, शब्दो का भरण-पोषण अङ्गविन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे, न जाने कौन, एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु-सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गई थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरो मे उच्छ्वसित हो, न जाने, किस ओर बह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले-रुपहले पङ्ख फैला, क्षणभर चञ्चल-लहरो की ताल पर मधुर-नृत्य कर, अन्तर्धान हो गई। जैसे उस परिस्फुट-यौवना सरिता ने अपने मीन-लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा, न जाने, हर्ष तथा विस्मयातिरेक से उस अज्ञात-कवि के क्या कुछ निकल पडा— "मत्स्य!" उस कवि का समस्त-आनन्द, आश्चर्य, भय, प्रेम रोमाञ्च तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा "मत्स्य" शब्द के रूप मे प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गई। अब भी यह शब्द उसी चटुल

मछली की तरह पानी मे छप् छप् शब्द् करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछल कर फिर अपनी ही चञ्चलता मे जैसे डूब जाता है। शकुन्तला-नाटक के, 'पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्' मृग की तरह इस शब्द् का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द्, प्राय., सङ्गीत-भेद् के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपो का प्रकट करते है। जैसे, 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चञ्चलता, 'भौहो' से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय मे अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' मे उठान, 'लहर' मे सलिल के वक्षःस्थल की कोमल-कम्पन, तरङ्ग' मे लहरो के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पडना, 'बढ़ो बढो' कहने का शब्द् मिलता है; "वीचि" से जैसे किरणो मे चमकती, हवा के पलने मे हौले हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियो का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरो का, हिल्लोल-किल्लोल से ऊँची ऊँची बाँहे उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरङ्गो का आभास मिलता है। "पङ्ख" शब्द् मे केवल फडक ही मिलती है, उडान के लिए भारी लगता है, जैसे किसी ने पक्षी के पंखो मे शीशे का टुकडा बाँध दिया हो, वह छटपटा कर बार बार नीचे गिर पडता हो, अँग्रेजी का 'Wing' जैसे उडान का जीता-जागता चित्र है। उसी तरह 'Touch' मे जो छूने की कोमलता है, वह "स्पर्श" मे नही मिलती। "स्पर्श", जैसे प्रेमिका के अङ्गो का अचानक स्पर्श पाकर हृद्य मे जो रोमाञ्च हो उठता है, उसका चित्र है; ब्रजभाषा के 'परस' मे छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'Joy' से जिस प्रकार मुँह भर जाता है 'हर्ष' से उसी प्रकार आनन्द् का विद्युत्-स्फुरण प्रकट होता है। अँग्रेज़ी के 'Air' मे एक प्रकार की transparency मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखाई पडती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल-शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी से छन कर आ रही हो; 'वायु'

मे निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फ़ीते की तरह खिंच कर फिर अपने ही स्थान पर आ जाताहै , 'प्रभञ्जन' 'Wind' की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तो को उडाता हुआ बहता है , 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नही सकती ; 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गई हो, 'प' और 'न' की दीवारो से घिर सा जाता है , 'समीर' लहराता हुआ बहता है ।

कविता के लिए चित्र-भाषा की आवश्यकता पडती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिएं, जो बोलते हो, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पड़े , जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखो के सामने चित्रित कर सके जो झङ्कार मे चित्र, चित्र मे झङ्कार हो ; जिनका भाव-सङ्गीत विद्युद्धारा की तरह रोम रोम मे प्रवाहित हो सके , जिनका सौरभ सूँघते ही साँसो-द्वारा अन्दर पैठ कर हृदयाकाश मे समा जाय , जिनका रस मदिरा की फेन-राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारो ओर मोतियों की झालर की तरह झूलने लगे, अपने छत्ते मे न समा कर मधु की तरह टपकने लगे ; अर्धनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन-जडता के अन्धकार को भेद कर अपने ही भावो की ज्योति मे दमक उठे , जिनका प्रत्येक चरण प्रियङ्गु की डाल की तरह अपने ही सौन्दर्य के स्पर्श से रोमाञ्चित रहे , जापान की द्वीप-मालिका की तरह जिनकी छोटी छोटी पंक्तियाँ अपने अन्तस्तल मे सुलगी ज्वालामुखी को न दबा सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासो के भूकम्प मे काँपती रहे !

भाव और भाषा का सामंजस्य, उनका स्वरैक्य ही चित्र-राग है । जैसे भाव ही भाषा मे घनीभूत हो गए हो , निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हो, छुडाये न जा सकते हो , कवि का हृदय जैसे नीड मे सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण-रश्मि के स्पर्श से

जग कर, एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की सम्पूर्ण-स्वतन्त्रता में कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण सङ्गीत के स्रोत मे उमड चला हो; अन्तर का उल्लास जैसे अपने फूट उडने के स्वभाव से बाध्य हो वीणा के तारों की तरह अपने आप झङ्कारो मे नृत्य करने लगा हो, भावनाओ की तरुणता अपने ही आवेश से अधीर हो जैसे शब्दोके चिरालिङ्गन-पाश मे बँध जाने के लिए हृदय के भीतर से अपनी बाँहे बढाने लगी हो;—यही भाव और स्वर का मधुर-मिलन, सरस-सन्धि है। हृदय के कुञ्ज मे छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद अपने प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ रोएँ आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हो।

जहाँ भाव और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नही रहता, वहाँ स्वरों के पावस मे केवल शब्दों के 'बटु-समुदाय' ही दादुरो की तरह इधर-उधर, कूदते, फुदकते तथा साम ध्वनि करते सुनाई देते है। ब्रज-भाषा के अलङ्कृत काल की अधिकाश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासो की ऐसी आराजकता तथा अलङ्कारो का ऐसा व्यभिचार और कही देखने को नही मिलता। स्वस्थ वाणी मे जो एक सौन्दर्य मिलता है उसका कही पता ही नही! उस "सूधे पॉव न धरि परत शोभा ही के भार" वाली ब्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलङ्कारो के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल-अङ्गो मे कलम की नोक से असंस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप रङ्ग कही दीख ही नही पडता, उस बालिका के अस्थि-हीन अङ्ग खीच-खीच, तोड-मरोड कर, प्रोक्रेस्टीज की तरह, किसी प्रकार छन्दो की चारपाई मे बॉध दिये, फिट कर दिये गये है! प्रत्येक पद्य, Messrs, Whiteaway Laidlaw and Co Catalague मे दी हुई नर-नारियो की तस्वीरो की तरह,—जिनकी सत्ता संसार मे और कही नही,—एक नये फैशन के गौन या पेटी-कोट, नई हैट या अण्डर-वियर, नये विन्यास के अलङ्कार-आभूषण अथवा

वस्त्रों के नये नये नमूनो का विज्ञापन देने के लिए ही जैसे बनाया गया हो ।

अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार है , भाषा की पुष्टिके लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है , वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति नीति है , पृथक् स्थितियो के पृथक् स्वरूप भिन्न अवस्थाओ के भिन्न चित्र है। जैसे वाणी की झङ्कारें विशेष घटना से टकरा कर फेनाकार हो गई हो, विशेष भावो के झोके खाकर बाल-लहरियो, तरुण-तरंगो मे फूट गई हों , कल्पना के विशेष बहाव मे पड आवर्तों मे नृत्य करने लगी हो । वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव है । जहाँ भाषा को जाली केवल अलङ्कारो के चैाखटे मे फ़िट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावो की उदारता शब्दो की कृपण जडता मे बँधकर 'सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है ।

जिस प्रकार संगीत मे सात स्वर तथा उनकी श्रुति-मूर्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती है, और विशेष स्वरो के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह-अवरोह से विशेष-राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता मे भी विशेष अलङ्कारो, लक्षणा-व्यञ्जना आदि विशेष शब्द-शक्तियो तथा विशेष छन्दो के सम्मिश्रण और सामञ्जस्य से विशेष-भाव की अभिव्यक्ति करने मे सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष, अपह्नुति, गूढोक्ति आदि अपने अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पङ्ख यह इच्छा करे कि मै भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उडूँ,—वे अभीप्सित-स्थान मे पहुँचने के मार्ग न रह कर स्वय अभीप्सित-स्थान, अभीप्सित-विषय बन जाते है , वहाँ बाजे के सब स्वरो के एक साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्वो के प्रलय मे लुप्त हो जाता , काव्य के साम्राज्य मे अराजकता पैदा हो जाती, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव,

शरीर-रक्षक तथा राजकर्म्मचारी, शब्दो की छोटी मोटी सेनाएँ सङ्गृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा मे विद्रोह खडा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है ।

कविता मे शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही रहती, वे दोनो भाव की अभिव्यक्ति मे डूब जाते है , तब भिन्न भिन्न आकारो मे कटी-छँटी शब्दो की शिलाओ का अस्तित्व ही नही मिलता राग के लेप मे उनकी सन्धियां एकाकार हो जाती है , उनका अपना रूप भाव के बृहत्स्वरूप मे बदल जाता, किसी के कुशल-करो का माधवी-स्पर्श उनकी निर्जीवता मे जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शाप-मुक्त हो जग उठते, हम उन्हे पाषाण-खण्डो का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह काव्य कहने लगते है । जिस प्रकार सङ्गीत मे भिन्न भिन्न स्वर राग की लय मे ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हे पृथक् नही कर सकने, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता, हम केवल राग के सिन्धु मे डूब जाते है, उसी प्रकार कविता मे भी शब्दो के भिन्न भिन्न कण एक होकर रस की धारा के स्वरूप मे बहने लगते, उनकी लँगडाहट मे गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते है , कणो का हमे अस्तित्व ही नही मिलता ।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक-दृश्य मे, उसके रङ्ग-बिरङ्गे पुष्पों, लाल-हरे-पीले, छोटे-बडे तृण-गुल्म-लताओ, ऊँची-नीची सघन विरल वृक्षावलियो, झाडियो, छाया-ज्योति की रेखाओ, तथा पशु-पक्षियो की प्रचुर ध्वनियो का सौन्दर्य-रहस्य उनके एकान्त-संमिश्रण पर ही निर्भर रहता, और उनमे से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता से अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने के कारण एक दूसरे के बल से सशक्त रहते , अपनी सङ्कीर्णता की झिल्ली तोड, तितली की तरह भाव तथा राग के रंगीन पङ्खो मे उडने लगते, और अपनी डाल से

पृथक होते ही शिशिर की बूद की तरह अपना अमूल्य मोती गँवा बैठते है।

ब्रज-भाषा के अलंकृत काल मे सङ्गीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ, उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दो का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है, कविता हमारे प्राणो का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धन हीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती है,—उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पंदन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोड़ो मे एक कोमल सजल कलरव भर, उन्हे सजीव बना देते है। वाणी की अनियमित साँसे नियन्त्रित हो जाती, तालयुक्त हो जाती, उसके स्वर मे प्राणायाम, रोओ मे स्फूर्ति आजाती, राग की असम्बद्ध झङ्कारे एक वृत्त मे बँध जाती उनमे परिपूर्णता आ जाती है। छन्द-बद्ध-शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह, अपने चारो ओर एक आकर्षण-क्षेत्र (Magnetic field) तैयार कर लेते, उनमे एक प्रकार का सामंजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमे राग की विद्युत्-धारा बहने लगती, उनके स्पर्श मे एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणो की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्णरूप, हमारे अन्तरतम-प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सङ्गीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणो में हमारा जीवन छन्द ही मे बहने लगता, उसमे एक प्रकार की सम्पूर्णता स्वरैक्य तथा संयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि-दिवस की आँख-मिचौनी, षड्ऋतु-परिवर्तन, सूर्य-शशि का जागरण-शयन ग्रह उपग्रहो का अश्रान्त नर्तन—सृजन, स्थिति, संहार,—सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड-सङ्गीत ही में होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत-ताप, जल-वायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण संसार की भिन्न भिन्न भाषाओ के उच्चारण, सङ्गीत मे भी

विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके सङ्गीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृत का सङ्गीत समास-सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियो की अभिन्नता के कारण शृङ्खलाकार, मेखलाकार हो गया है; उसमे दीर्घश्वास की आवश्यकता पडती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड, कन्धे से कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जैसे दूसरा रह नही सकता, एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुँह से स्वयं बाहर निकल आना चाहता, एक कोना पकड कर हिला देने से सारा चरण ज़ञ्जीर की तरह हिलने लगता है। शब्दो की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण संस्कृत मे वर्ण वृत्तो का प्रादुर्भाव हुआ, उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सबद्ध है कि संस्कृत के छन्दों मे अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नही रहती, उसके लिए स्थान ही नही मिलता। वर्णिक छन्दो मे जो एक नृपोचित-गरिमा मिलती है, वह 'तुक' के सङ्केतो तथा नियमों के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है; वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव मे झूमती हुई जाती, तुक का अङ्कुश उसकी मान-मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार संस्कृत के सङ्गीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए, उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमे वर्ण-वृत्तों की आवश्यकता पडी, उसी प्रकार वर्ण-वृत्तों के कारण संस्कृत मे अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दो की, उसमे पर्यायो की तो प्रचुरता है, पर भावो के छोटे-बड़े चढाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्छनाओ, लघु-गुरु भेदों को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दो का प्रादुर्भाव न हो सका। वर्णवृत्तों के निर्माण मे विशेषतायों तथा पर्य्यायो से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव विशेषणो की भीड़ों से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि (ripple, billow, wave, tide) आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद-द्योतक शब्दो के गढने की ओर संस्कृत के कवियो का उतना ध्यान नही रहा जितना तुल्यार्थ शब्दो के बढाने की ओर।

संस्कृत का सङ्गीत जिस तरह हिल्लोलाकार मालोपमा मे प्रवाहित

होता है, उस तरह हिन्दी का नही। वह लोल-लहरों का चञ्चल कलरव बाल-झङ्कारो का छेकानुप्रास है। उसमे प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृतस्पन्दन, स्वतन्त्र अङ्ग भङ्गी, स्वाभाविक-सासे है। हिन्दी का सङ्गीत स्वरो की रिमझिम मे बरसता, छनता-छनकता, बुद्‌बुदो मे उबलता, छोटे छोटे उत्सो के कलरव मे उछलता-किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले लगकर, पगो से पग मिलाकर सेनाकार नही चलते, बच्चो की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता मे थिरकते-कूदते है। यही कारण है कि संस्कृत मे संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है, हिन्दी मे ऐसा नियम नही, और वह कर्ण-कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का सङ्गीत केवल मात्रिक-छन्दो ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता, उन्ही के द्वारा उसके सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्ण-वृत्तो की नहरो मे उसकी धारा अपना चञ्चल-नृत्य, अपना नैसर्गिक मुखरता, कल्‌कल् छल्‌छल्, तथा अपने क्रीडा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसका हास्य-दृप्त सरल मुखमुद्रा गम्भीर मौन तथा अवस्था से अधिक प्रौढ हो जाती, उसका चञ्चल भृकुटि-भंग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पडता है कि उसके चञ्चल-पदो से स्वाभाविक-नृत्य छीन कर किसी ने बलपूर्वक, उन्हे सिपाहियो की तरह गिन गिनकर पाव उठाना सिखलाकर, उनका चञ्चलता को पद-चालन के व्यायाम की बेडी से बाध दिया है। हिन्दी का सङ्गीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद-क्षेप के लिए वर्ण-वृत्त पुराने फैशन के चादी के कड़ा की तरह बडे भारी हो जाते है, उसका गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदो मे वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नही रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी-कविता के सम्यक् वाहन नही हो सकते, बँगला भाषा का सङ्गीत आलाप-प्रधान होने से अनियन्त्रित-सा

है। उसकी धारा पहाडी नदी की तरह ओठो के तटो से टकराती, ऋजु-कुञ्चित चक्कर काटती, मन्द-क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोड़ो का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती, अपनी शब्दराशि को झकोरती, धकेलती, चढती, गिरती, उठती, पडती हुई आगे बढती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति से ह्रस्व-दीर्घ के पलडों मे सूक्ष्म-रूप से नहीं तुले मिलते, उनका मात्रा-काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक हो जाता है। अँगरेज़ी की तरह बँगला में भी स्वरपात (Accent) अधिक परिस्फुट रूप मे मिलता है। यदि अंगरेज़ी तथा बंगला के शब्द हिन्दी के छन्दो मे कम्पोज कर कस दिये जाय, तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले, कटे छँटे (Diamond cut के) होते है, वैसे बँगला अँगरेज़ी के नही, वे जैसे लिखे जाते वैसे नही पढ़े जाते। बंगला के शब्द उच्चारण की धारा मे पड स्पञ्ज (Sponge) के टुकडो की तरह स्वर से फूल उठते और अगरेज़ी के शब्दो का कुछ नुकीला भाव उच्चारण करते समय बिलायती मिठाई की तरह मुँह के भीतर ही गल कर रह जाता, वे चिकने-चुपड़े, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते है।

बँगला मे, अधिकतर, अक्षर-मात्रिक छन्दो में कविता की जाती है। पुराने वैष्णव-कवियो के अतिरिक्त,—जिन्होने संस्कृत और हिन्दी के ह्रस्व-दीर्घ का ढङ्ग अपनाया,—अन्यत्र, ह्रस्व-दीर्घ के नियमो पर बहुत कम कविता मिलती है, इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक सङ्गीत विनष्ट भी हो जाता हैं, रावीन्द्रिक ह्रस्व-दीर्घ मे बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूर्ण मिलता है, उसके अनुसार ऐ' 'औ' तथा सयुक्ताक्षर के पूर्व-वर्ण को छोड कर और सर्वत्र—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ओ मे—एक ही मात्रा काल माना जाता, और वास्तव मे, बँगला मे इनका ठीक ठीक दीर्घ उच्चारण होता भी नही। पर हिन्दी मे तो सोने की तोल है उसमे आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चारण की सुविधा के लिए, घटा-बढा नही सकते, उसकी

आवश्यकता ही नही पडती , इस लिए बँगला-छन्दो की प्रणालियो मे डालन से उसके सङ्गीत की रक्षा नही हो सकती ।

व्रजभाषा के अलङ्कृत काल मे "सवैया" और "कवित्त' का ही बोलबाला रहा , दोहा-चौपाई महात्मा तुलसीदासजी ने इतने ऊँचे उठा दिये, ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ़ भक्ति के उद्गारो को बहाते बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड, अन्य कवियो को उन पवित्र स्वरो को अपनी शृङ्गार की तन्त्री मे चढाने का साहस ही नही हुआ , उनकी लेखनी-द्वारा वे अधिक परिपूर्ण रूप पा भी नही सकते थे। इसके अतिरिक्त सवैया तथा कवित्त छन्दो मे रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छन्दो मे सफलतापूर्वक रचना कर भी नही सकते । छन्दों को अपनी अँगुलियो मे नचाने के पूर्व, कवि को छन्दो के संकेतो पर नाचना पडता है, सरकस के नवीन अदम्य-अश्वों को तरह उन्हें साधना उनके साथ साथ घूमना, दौडना, चक्कर खाना पडता है , तब कहीं व स्वेच्छानुसार, इङ्गित-मात्र पर वर्तुलाकार, अण्डाकार, आयताकार बनाये जा सकते है । जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक् पृथक् वाद्य-यन्त्रों मे उनकी पृथक् पृथक् रीति से साधना करनी पडती है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न छन्दों के तारो, परदो तथा तन्तुओ से भावनाओं का राग जाग्रत करने के पूर्व, भिन्न-भिन्न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर-योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पडता है, तभी छन्दो की तन्त्रियो से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल-तान, आलाप भावना की मुरकियाँ तथा मीडें स्वच्छन्दता तथा सफलतापूर्वक झङ्कारित की जा सकती है। प्रायः देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छन्द होते हैं, जिनमे उसकी छाप सी लग जाती , जिनके ताने-बाने मे वह अपने उद्गारो को कुशलतापूर्वक बुन सकता है। खडी बोली के कवियो मे गुप्तजी को हरिगीतिका, हरिऔधजी को चौपदो, सनेही जी को षट्पदियो मे विशेष सफलता प्राप्त हुई है ।

पिङ्गलाचार्य केशवदासजी अपनी रामचन्द्रिका को जिन जिन ड्योढ़ियों तथा सुरङ्गो से ले गये है, उनमे अधिकाश उनसे अपरिचित सी जान पडती है, जिनके रहस्यो से वे पूर्णतया अभिज्ञ न थे। ऐसा जान पडता है, उन्होने बलपूर्वक शब्दो की भीड को ठेल, छन्दो के कन्धे पिचका कर अपनी कविता की पालकी को आगे बढाया है, नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकल पर चढने का अधिक शोक होता है, उनके छन्दो के पहिये, बैलन्स ठीक ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते-डुलते हुए जाते है।

सवैया तथा कवित्त छन्द भी मुझे हिन्दी की कविता के लिए उपयुक्त नही जान पडते। सवैया मे एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमे एक प्रकार की जडता, एकस्वरता (Monotony) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार-बार दो लघु अक्षरो के बाद आने वाले गुरु अक्षर पर पडने से सारा छन्द एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड जाता है। कविता की लडी मे, छन्द की डोरी पर दानो के बीच दी हुई स्वरो की गाँठे तो बडी बडी होकर सामने आ जाती है, और भावद्योतक शब्दो की गुरियाँ छोटी पड़ उन गाँठो के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारो के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से अपने वेगानुसार तटो मे स्वाभाविक काट-छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है; अपने पुष्प-गुल्म लताओ के कोमल पुलिनो से चुम्बन-आलिङ्गन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रङ्ग-विरङ्गी रोडों से फेनिल-हास-परिहास करने क्षिप्र-आवर्तों के रूप मे भ्रूपात करने का उसे अवसर ही नही मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (romance), स्वतन्त्रता तथा स्वच्छन्दता खो बैठती है।

कवित्त-छन्द, मुझे ऐसा जान पडता है, हिन्दी का औरस जात नहीं, पोष्य-पुत्र है, न जाने, यह हिन्दी मे कैसे और कहां से आ गया; अक्षर-मात्रिक छन्द बंगला मे मिलते हैं, हिन्दी के उच्चारण-सङ्गीत की वे रक्षा नही कर सकते। कवित्त को हम संलापोचित (Colloquial) छन्द कह

सकते है, सम्भव है, पुराने समय मे भाट लोग इस छन्द मे राजा-महाराजाओ की प्रशंसा करते हो और इसमे रचना-सौन्दर्य पाकर, तत्कालीन कवियो ने धीरे धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो ।

हिन्दी का स्वाभाविक सङ्गीत ह्रस्व-दीर्घ मात्राओ को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा पूरा समय देता है । मात्रिक छन्द मे बद्ध प्रत्येक लघु-गुरु को उच्चारण करने मे जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप मे भी साधारणतः मिलता है, दोनो मे अधिक अन्तर नही रहता । यही हिन्दी के राग की सुन्दरता अथवा विशेषता है । पर कवित्त-छन्द हिन्दी के इस स्वर और लिपि के सामञ्जस्य को छीन लेता है । उस मे, यति के नियमो के पालनपूर्वक, चाहे आप इकत्तीस गुरु-अक्षर रख दे, चाहे लघु, एक ही बात है । छन्द की रचना मे अन्तर नही आता । इसका कारण यह है कि कवित्त मे प्रत्येक अक्षर को, चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा काल मिलता है, जिससे छन्द-बद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए, उच्चारित होते है, हिन्दी का स्वाभाविक सङ्गीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली जैसे मद्यपान कर लडखडाती हुई, अडती, खिचती, एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है । कवित्त-छन्द के किसी चरण के अधिकाश शब्दो को किसी प्रकार मात्रिक छन्द मे बाध दीजिए, यथा —

"कूलन मे केलिन मे कछारन मे कुञ्जन मे क्यारिन मे कलित कलीन किलकन्त है"—इस लडी को यो सोलह मात्रा के छन्द मे रख दीजिए ।

> "सु-कूलन मे केलिन मे (और)
> कछारन कुञ्जन मे (सब ठौर)
> कलित-क्यारिन मे (कल) किलकन्त
> बनन मे बगर्यो (विपुल) बसन्त ।"

अब दोनों को पढ़िये, और देखिए कि इन्ही 'कूलन केलिन' आदि शब्दो

का उच्चारण-सङ्गीत इन छन्दो मे किस प्रकार भिन्न भिन्न हो जाता है; कवित्त मे परकीय, मात्रिक छन्द मे स्वकीय, हिन्दी को अपना उच्चारण मिलता है।

इस अनियन्त्रित छन्द मे नायक-नायिकाओ, तथा अलङ्कारो का विज्ञापन-मात्र देने मे केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नही हुआ, तत्कालीन कविता का राग भी शब्द-प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक स्वर और सङ्गीत का विकाश तो रुक गया, उसकी पूर्ति अनुप्रासो तथा अलङ्कारो की अधिकता से करनी पडी। कवित्त-छन्द मे जब तक अलङ्कारो की भरमार न हो तब तक वह सजता भी नही, अपनी कुल-वधू की तरह दो एक नये आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नही हो उठता, गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र भूषण ऐंठ लेने पर ही कही अपने साथ रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य-सङ्गीत के मूल तन्तु स्वर हैं, न कि व्यञ्जन, जिस प्रकार सितार मे राग का रूप प्रकट करने के लिए केवल 'स्वर के तार' पर ही कर सञ्चालन किया जाता और शेष तार केवल स्वर-पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देने भर के लिए झङ्कारित किये जाते, उसी प्रकार कविता मे भी भावना का रूप स्वरो के संमिश्रण, उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है, ध्वनि-चित्रण को छोड-जिसमें राग व्यञ्जन-प्रधान रहता, यथा—"घन घमंड नभ गरजत घोरा" अन्यत्र व्यञ्जन-सङ्गीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटित करने मे प्रायः गौण रूप से सहायता-मात्र करता है। जिस छन्द मे स्वर-सङ्गीत की रक्षा की जा सकती, उसके सङ्कोच-प्रसार को यथावकाश दिया जा सकता है, उसमे राग का स्वाभाविक-स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामंजस्य पूर्ण-रूप से मिलता है; जहाॅ राग केवल व्यञ्जनो की डोरियो मे झूलता, वहा अलङ्कारो की झनक के साथ केवल 'हिंडोरे' की ही रमक सुनाई पडती है। कवित्त का राग व्यञ्जन-प्रधान है, उसमे स्वर अथवा मात्राओ

के विकास के लिए अवकाश नही मिलता। नीचे कुछ उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल मे अटका कभी अछोर"

इस मात्रिक छन्द मे 'सा आशा का' इन चार वर्णों मे 'आ' का प्रस्तार आशा के छोर को फैलाकर इन्द्रधनुष की तरह अनिल मे अछोर अटका देता है, द्वितीय चरण में 'अ' की पुनरावृत्ति भी कल्पना के इस काम मे सहायता देती है, उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतो का-सा
प्रकटा विकट महा-आकार"

इन चरणो मे स्वर के प्रस्तार द्वारा ही भूतो का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यञ्जनो की आवृत्ति उसे भीषण बनाने मे सहायता-मात्र देती है; पुन:—

"हमे उडा लेता जब द्रुत
दल-बल-युत घुस बातुल-चोर"

इसमे लघु अक्षरो की आवृत्ति ही बातुल-चोर के दल बल युत घुसने के लिए मार्ग बनाती है। यदि आप उपर्युक्त चरणो मे किसी एक को कवित्त-छन्द मे बाँध कर पढ़ें, यथा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल मे अटका कभी अछोर"
इसे, "इन्द्रधनु-सा आशा का छोर अटका अछोर
अनिल मे, (अनिल के अञ्चल आकाश मे)"

इस प्रकार रख कर पढे, तो प्रत्येक की कडी अलग अलग हो जाने तथा स्वरो का प्रस्तार रुक जाने के कारण राग के आकाश मे कल्पना का अछोर इन्द्र-धनुष नही बनने पाता। उसी प्रकार—"अरी सलिल की लोल-हिलोर," इस पद मे 'ई' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार

'हिलोर' को गिराती और उठाती, तथा "पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश" इस चरण मे लघु-मात्राओ का समुदाय अथवा स्वरो का सङ्कोच, गिलहरी की तरह दौड कर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल-पल परिवर्तित कर देता, कवित्त-छन्द की Pressing Machine मे कस जाने पर उपर्युक्त वाक्यो के पन्ने उस प्रकार स्वच्छन्दता-पूर्वक स्वराकाश मे नही उड सकते, क्योकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल नही है।

कविता विश्व का अन्तरतम सङ्गीत है, उसके आनन्द का रोम-हास है, उसमे हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मर्म प्रकाश है। जिस प्रकार कविता मे भावो का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्द-बद्ध भाषा मे भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत्, प्रबल तथा परिपूर्ण रहती है। राग ध्वनि-लोक की कल्पना है। जो कार्य भाव-जगत् मे कल्पना करती, वह कार्य शब्द-जगत् मे राग, दोनो अभिन्न है। यदि किसी भाषा के छन्दो मे, भारती के प्राणो मे शक्ति तथा स्फूर्ति संचार करने वाले उसके सङ्गीत को, अपनी उन्मुक्त झङ्कारो के पङ्खो मे उडने के लिए प्रशान्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिञ्जर-बद्ध कीर की तरह, छन्द के अस्वाभाविक बन्धनो से कुण्ठित हो, उडने की चेष्टा मे छटपटा कर गिर पडता हो, तो उस भाषा मे छन्दबद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण-सङ्गीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतङ्ग डोर के लघु-गुरु संकेतो की सहायता से और भी ऊँची ऊँची उडती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इङ्गितो मे दृप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति मे अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप मे भाषा सङ्गीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नही प्राप्त होता उसी की पूर्ति के लिये काव्य मे छन्दो का प्रादुर्भाव हुआ है, कविता मे भावो के प्रगाढ-सङ्गीत के साथ भाषा का सङ्गीत भी पूर्ण-परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोनो मे स्वरैक्य रह सकता है।

पद्य को हम गद्य की तरह नही पढते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य मे वाणी का रोआँ रोआँ सङ्गीत मे सन कर, रस मे डूबे हुए किशमिश की तरह, फूल उठता है, सुरो मे कमी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय-स्पर्श से, अपने आप, अनवरत झङ्कारों मे कापते रहते है, पावस की अँधियारी मे जुगुनुओ की तरह अपनी ही गति मे प्रभा प्रसारित करते रहते है।

अब कुछ तुक की बातें होनी चाहिएं। तुक राग का हृदय है, जहाँ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष-रूप से सुनाई पडता है। राग की समस्त छोटी बडी नाडियाँ मानो अन्त्यानुप्रास के नाडी-चक्र मे केन्द्रित रहती, जहा से नवीन बल तथा शुद्ध-रक्त ग्रहण करके छन्द के शरीर मे स्फूर्ति सञ्चार करती रहती हैं। जो स्थान ताल मे 'सम' का है, वही स्थान छन्द मे तुक का, वहा पर राग शब्दो की सरल तरल ऋजु-कुञ्चित 'परनों' मे घूम-फिर कर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता मे हिल उठता है। जिस प्रकार अपने आरोह-अवरोह मे रागवादी स्वर पर बार बार ठहर कर अपना रूप-विशेष व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है। तुक उसी शब्द मे अच्छा लगता है जो पद-विशेष मे गुँथी हुई भावना का आधार-स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते है, शेष शब्द उसकी पूर्त्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए, सहायक-मात्र होते है। उस शब्द को हटा देने से सारा वाक्य अर्थ-शून्य, हृदय-हीन सा हो जाता है। वाक्य की डाल मे, अपने अन्य सहचरो की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड़ की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती, और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग को अपनी मर्मर ध्वनि मे प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है। इसी शब्द-सम्राट् के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति से सशक्त होकर हमारा

ध्यान आकर्षित करता रहता है, अतः वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव के हृदयङ्गम कराने मे भी सहायता दे सकता है।

हमे अपनी दिन-चर्या मे भी, प्रायः एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे संयमित तथा सीमाबद्ध रखता; जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्य-कारिणी शक्तियाँ आकर्षित रहती है। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लङ्घन कर बैठते है, तब हमारे कार्य हमे तृप्ति नही देते, हमारे हृदय मे एक प्रकार का असन्तोष जमा हो जाता, हम अपनी दिन-चर्या का केन्द्र खो बैठते, और स्वयं अपनी ही आँखो मे बेतुके से लगते है। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते है – जब हम अधिक कार्य-व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते, उस समय काम-काज का ऐसा ताप, क्रिया का ऐसा स्पन्दन-कम्पन रहता है कि हमे अपनी स्वाभाविक दिन-चर्य्या मे बरते जाने वाले शिष्टाचार-व्यवहार के लिए जीवन के स्वतन्त्र क्षणो मे प्रत्येक कार्य के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल जाती, उसके लिए अवकाश ही नहीं मिलता, हमारे कार्य-प्रवाह मे तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक अश्रान्त-दौड-सा, कुछ समय के लिए, बन जाता। यही Blank Verse अथवा अतुकान्त कविता है। इसमे कर्म (Action) का प्राधान्य रहता है, दिन की उज्ज्वल-ज्योति मे काम-काज का अधिक प्रकाश रहता है, उसमे हमे तुक नही मिलता, प्रभात और संध्या के अवकाशपूर्ण घाटो पर हमे इस तुक के दर्शन मिलते है, प्रत्येक पदार्थ मे एक सोने की भावपूर्ण, शान्त सङ्गीतमय छाप सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी मे रोला छन्द अन्त्यानुप्रास हीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पडता है, उसकी साँसो मे प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर से निर्जीव-शब्द भी फडक उठते है। ऐसा जान पडता है, उसके राजपथ मे मेला लगा है, प्रत्येक शब्द 'प्रवाल-शोभा इव पादपाना' तरह तरह के संकेत तथा चेष्टाएँ करता, हिलता-डुलता आगे बढता है।

भिन्न भिन्न छन्दों की भिन्न भिन्न गति होती है, और तदनुसार वे रस-विशेष की सृष्टि करने मे भी सहायता देते है। रघुवंश मे 'अज-विलाप' का वैतालीय छन्द करुण रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है? उसके स्वर मे कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है? जैसे अधिक उद्वेग के कारण उसका कण्ठ गद्गद् हो गया हो, भर गया हो। यदि विहाग-राग की तरह उस छन्द का चित्र भी कहीं होता तो उसकी आँखो मे अवश्य आँसुओ का समुद्र उमडता हुआ मिलता। मालिनी-छन्द मे भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दो मे पीयूष-वर्षण, रूपमाला, सखी और प्लवङ्गम छन्द करुण रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते है। पीयूष-वर्षण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि मे बहने वाली निर्जन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पत्र-पुष्पो के शृङ्गार से विहीन, जिसकी धारा लहरो के चञ्चल कलरव तथा हास-परिहास से वञ्चित रहती, यह छन्द भी, वैधव्य-वेश मे, अकेलेपन मे सिसकता हुआ श्रान्त जिह्म गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त धीरे धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुणरस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनो छन्द चौबीस मात्रा के है, पर इन दोनो की गति मे कितना अन्तर है? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटो को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढ़ता है, वहाँ रूपमाला दिन भर के काम-धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह, चिन्ता मे डूबा हुआ, नीची दृष्टि किये, ढीले पाँवो से जैसे घर की ओर आता है।

राधिका-छन्द मे ऐसा जान पडता है, जैसे इसकी क्रीडा-प्रियता अपने ही परदों मे 'गत' बजा रही हो। जैसे परियो की टोली परस्पर हाथ पकड, चञ्चल नूपुर नृत्य करती हुई, लहरों की तरह अङ्ग-भङ्गियो मे उठती-झुकती, कोयल कण्ठ-स्वरो से गा रही हो। इस छन्द मे जितनी

ही अधिक लघु-मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणों में उतनी ही मधुरता तथा नृत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल-छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल कल छल छल करता हुआ बहता है। इसकी तथा चौदह मात्रा के सखी-छन्द की गति में कितना अन्तर है? सखी-छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानु-प्रास अच्छा नहीं लगता, दूर दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है; अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर-भङ्ग आ जाता है, जो करुणा का सञ्चार करने में सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई छन्द अनमोल मोतियों का हार है; बाल-साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं मिलता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसे, बच्चों का कण्ठ-स्वर मिलता है, बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर-उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पङ्खों में ख़ूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त-काव्य का प्रचार दिन दिन बढ़ रहा है, कोई इसे रबर-काव्य कहते हैं, कोई कङ्गारू। आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द छन्द' ही की छटा दिखलाई पड़ती है। यह 'स्वच्छन्द-छन्द' ध्वनि अथवा लय (Rhythm) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर-नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्र वेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता छाँटता, अपने लिए ऋजु कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान-पतन, आवर्तन-विवर्तन के अनुरूप सङ्कुचित-प्रसारित होता, सरल-तरल, ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त-छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामञ्जस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि,

रोला आदि छन्दो मे प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खीच-खाँच कर उसके ढाँचे मे फिट कर देना पडता है, कभी पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पडते है। विकट साम्यवादियो की तरह ये छन्द बाह्य समानता चाहते है। मुक्त-काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव-जगत् के साम्य को ढूंढता है। उसमे छन्द के चरण भावनानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते है। क्वाटरो (Quarters) मे रहनेवाले बाबुओ की तरह, भावना को परतन्त्रता के हाथो बने हुए घरो के अनुसार, अपनी खाने पीने, उठने बैठने, सोने रहने की सुविधा को, कुछ इने गिने कमरो ही मे येन केन प्रकारेण ठूँस ठूँस कर जीवन निर्वाह नही करना पडता, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा, स्वाभाविक-रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार अपना निकेतन बनाता है, जिसमे उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ पाँव फैला कर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता मे अङ्गो के गठन (Solidity of expression) की ओर विशेष ध्यान रखना पडता है। इसमे चरण इसलिए घटाये बढाये जाते है कि काव्य सम्बद्ध, संयामत रहे, उसकी शरीर-यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मासल हो, न व्रजभाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि पञ्जर। जहा छन्द के पद भावानुसार नही जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते-बढते, चीन की सुन्दरियो अथवा पाश्चात्य महिलाओ को तरह केवल अपने चरणो को छोटा रखने के लिए लोहे के तङ्ग जूते (Tight shoes), कमर को पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक-सौन्दर्य का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्य-भ्रष्ट भी हो जाती है।

---

(८)

काव्य में प्राकृतिक दृश्य

ले०—पं० रामचन्द्र शुक्ल, अध्यापक काशी-विश्वविद्यालय

'दृश्य' शब्द के अंतर्गत, केवल नेत्रो के विषय का ही नही, अन्य ज्ञानेद्रियो के विषयो का भी (जैसे शब्द, गंध, रस) ग्रहण समझना चाहिए। "लहकती हुई मंजरियो से लदी और वायु के झकोरो से हिलती हुई आम की डाली पर काली कोयल बैठी मधुर कूक सुना रही है" इस वाक्य मे यद्यपि रूप, शब्द और गंध, तीनो का विवरण है, पर इसे एक दृश्य ही कहेगे। बात यह है कि कल्पना द्वारा अन्य विषयों की अपेक्षा नेत्रो के विषयो का ही सबसे अधिक आनयन होता है, और सब विषय गौण-रूप से आते है। बाह्य करणो के सब विषय अंतः-करण मे 'चित्र-रूप' से प्रतिबिम्बित हो सकते है। इसी प्रतिबिम्ब को हम 'दृश्य' कहते है।

यह तो स्पष्ट है कि 'प्रतिबिम्ब' या 'दृश्य' का ग्रहण 'अभिधा' द्वारा ही होता है। पर 'अभिधा' द्वारा ग्रहण एक ही प्रकार का नही होता। हमारे यहाँ आचार्यों ने संकेत-ग्रह के जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा, ये चार विषय तो बताये, पर स्वयं संकेत-ग्रह के दो रूपो का विचार नही किया। अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिब-ग्रहण और अर्थ-ग्रहण। किसी ने कहा 'कमल'। अब इस 'कमल' पद का ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि ललाई लिए हुए सफेद पँखडियों और नाल आदि के सहित एक फूल का चित्र अंतः-

करण मे थोडी देर के लिए उपस्थित हो जाय, और इस प्रकार भी कर सकता है कि कोई चित्र उपस्थित न हो, केवल पद का अर्थ-मात्र समझ कर काम चलाया जाय। व्यवहार मे तथा शास्त्रो मे इसी दूसरे प्रकार के संकेत-ग्रह से काम चलता है। वहाँ एक-एक पद के वाच्यार्थ के रूप पर अडते चलने की फुरसत नही रहती। पर काव्य के दृश्य-चित्रण मे संकेत-ग्रह पहले प्रकार का होता है। उसमे कवि का लक्ष्य 'बिब-ग्रहण' कराने का रहता है, केवल अर्थ ग्रहण कराने का नही। वस्तुओ के रूप और आसपास की परिस्थिति का ब्योरा जितना ही स्पष्ट या स्फुट होगा, उतना ही पूर्ण बिब-ग्रहण होगा, और उतना ही अच्छा दृश्य-चित्रण कहा जायगा।

'बिब-ग्रहण' कराने के लिये चित्रण काव्य का प्रथम विधान है, जो 'विभाव' मे दिखाई पडता है। काव्य मे 'विभाव मुख्य समझना चाहिए। भावो के प्रकृत आधार या विषय का कल्पना द्वारा पूर्ण और यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का पहला सबसे आवश्यक काम है। यो तो जिस प्रकार विभाव अनुभाव आदि मे हम कल्पना का प्रयोग पाते है, उसी प्रकार उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो मे भी, पर जब कि रस ही काव्य मे प्रधान वस्तु है, तब उसके सयोजकों मे कल्पना का जो प्रयोग होता है, वही आवश्यक और प्रधान ठहरता है, इन संयोजकों मे इसका आधार खडा करनेवाला जो विभावन व्यापार है, वही कल्पना का सबसे प्रधान कार्य-क्षेत्र है। किंतु वहाँ उसे यो ही उडान भरना नही होता, उसे अनुभूति या रागात्मिका वृत्ति के आदेश पर चलना पडता है। उसे ऐसे स्वरूप खडे करने पडते है, जिनके द्वारा रति, हास, शोक, क्रोध इत्यादि का स्वयं अनुभव करने के कारण कवि जानता है कि श्रोता या पाठक भी उनका वैसा ही अनुभव करेगे। अपनी अनुभूति की व्यापकता के कारण मनुष्य-मात्र की अनुभूति तथा उसके विषयो को अपने हृदय मे रखनेवाले ही ऐसे स्वरूपो का अपने मन मे ला सकते हैं, और कवि कहे जाने के अधिकारी बन सकते है।

किसी भाव के संबंध मे दो पक्ष होते हैं—

(१) आलंबन (भाव का विषय)

(२) आश्रय (भाव का अनुभव करनेवाला)

इनमे से प्रथम तो मनुष्य से लेकर कीट, पतंग, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि सृष्टि का कोई भी पदार्थ हो सकता है। किंतु दूसरा हृदय-संपन्न मनुष्य ही होता है। प्राचीन कविगण इन दोनो का स्वरूप प्रतिष्ठित करने मे—इनका बिंब-ग्रहण कराने मे—कल्पना का पूरा-पूरा उपयोग करते थे। वाल्मीकीय रामायण को मै प्राचीन आर्य-काव्य का आदर्श मानता हूँ। उसमें राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दंडकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्योरे के साथ सामने आता है। इन स्थलों के वर्णन में हमे हाट, बाट, वृक्ष, वन, पर्वत, नदी, निर्झर, ग्राम, जनपद इत्यादि न-जाने कितने पदार्थों का प्रत्यक्षीकरण मिलता है।

साहित्य के आचार्यों की दृष्टि में वन, उपवन, ऋतु आदि शृङ्गार के 'उद्दीपन' मात्र है, वे केवल नायक या नायिका को हँसाने या रुलाने के लिये है। जब यही बात है, तब फिर इनका संश्लिष्ट चित्रण करके श्रोता को 'बिंब-ग्रहण' कराने से क्या प्रयोजन? उनके नाम गिनाकर अर्थ ग्रहण करा दिया, बस, हो गया। पर सोचने की बात है कि क्या प्राचीन कवियो ने इनका वर्णन इसी रूप में किया है? क्या विश्व-हृदय वाल्मीकि ने वनो और नदियो आदि का वर्णन इसी उद्देश्य से किया है? क्या महाकवि कालिदास ने कुमारसंभव के आरंभ मे ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है, वह केवल शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से? कभी नही। ये वर्णन पहले तो प्रसंग-प्राप्त है, अर्थात् आलंबन की परिस्थिति को अंकित करनेवाले हैं। इनके विना आश्रय और आलंबन शून्य मे खड़े मालूम होते हैं। इस पर यों ग़ौर कीजिए। राम

और लक्ष्मण के दो चित्र आपके सामने है। एक मे केवल दो मूर्तियों के अतिरिक्त और कुछ नही है, और दूसरे मे पयस्विनी के द्रुम-लताच्छादित तट पर, पर्ण-कुटी के सामने, दोनों भाई बैठे है। इनमे से दूसरा चित्र परिस्थिति को लिए हुए है, इससे उसमे हमारे भावो के लिये अधिक विस्तृत आलंबन है। हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है, अतः उपचार से वह हमारे भावों का भी आलंबन है। उसी परिस्थिति मे—उसी संसार मे—उन्ही दृश्यों के बीच, जिनमे हम रहते है, राम-लक्ष्मण को पाकर हम उनके साथ तादात्म्य-संबंध का अधिक अनुभव करते है, जिससे 'साधारणीकरण' पूरा-पूरा होता है।

पर प्राकृतिक वर्णन केवल अंग-रूप से ही हमारे भावों के आलंबन नही है, स्वतंत्र-रूप मे भी है। जिन प्राकृतिक दृश्यो के बीच हमारे आदिम पूर्वज रहे, और अब भी मनुष्य-जाति का अधिकाश (जो नगरों मे नही आ गया है) अपनी आयु व्यतीत करता है, उनके प्रति प्रेम-भाव, पूर्व-साहचर्य के प्रभाव से, संस्कार या वासना के रूप मे, हमारे अंतःकरण मे निहित है। उनके दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से हमारी भीतरी प्रकृति का जो अनुरंजन होता है, वह अस्वीकृत नही किया जा सकता। इस अनुरंजन को केवल किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक कहना अपनी जडता का ढिंढोरा पीटना है। जो प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते है, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, और संस्कार-सापेक्ष है। मैने पहाडो पर या जंगलो मे घूमते समय बहुत-से ऐसे साधु देखे है, जो लहराते हुए हरे भरे जगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी-से ढलते हुए झरनो, चौकडी भरते हुए हिरनो और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगो को देख मुग्ध हो गए है। काले मेघ जब अपनी छाया डाल-कर चित्रकूट के पर्वतों को नील-वर्ण कर देते है, तब नाचते हुए नील-कंठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। इसमे कोई संदेह नही कि ऐसे दृश्यो

को देखकर हर्ष होता है। हर्ष एक संचारी भाव है। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि उसके मूल मे रति-भाव वर्तमान है, और वह रति-भाव उन दृश्यों के प्रति है।

रीति-ग्रंथों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयो-जक विषयो मे से कुछ तो 'उद्दीपन' मे डाल दिए गए और कुछ 'भाव-क्षेत्र' से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते मे हॉक दिए गए। इसी व्यवस्था के अनुसार वस्तुओं के स्वाभाविक रूप और क्रिया का वर्णन 'स्वभावोक्ति' अलंकार हो गया। जैसे लडको का खेलना, चीते का पूँछ पटककर झपटना, हाथी का गंड स्थल रगडना इत्यादि। पर मै इन्हे प्रस्तुत विषय मानता हूँ, जिन पर अप्रस्तुत विषयो का उत्प्रेक्षा आदि द्वारा आरोप हो सकता है। वात्सल्य रति भाव के प्रदर्शन मे यदि बच्चे की क्रीडा का वर्णन हो, तो क्या वह अलंकार-मात्र होगा? प्रस्तुत वर्ण्य विषय अलंकार नही कहा जा सकता। वह स्वयं रस के संयोजकों मे से है, उसकी शोभा-मात्र बढानेवाला नही। मै अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली मात्र मानता हूँ, जिसके अतर्गत करके चाहे किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तु-निर्देश अलकार का काम नही। साराश यह कि 'स्वभावोक्ति' अलंकार नही है, और इसी से उसका ठीक-ठीक लक्षण भी स्थिर नही हो सका है।

मनुष्य, शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सबंध का विच्छेद करने से, अपने आनद की व्यापकता को नष्ट करता है। बुद्धि की व्याप्ति के लिये मनुष्य को जिस प्रकार विस्तृत और अनेक-रूपात्मक क्षेत्र मिला है, उसी प्रकार "भावों" (मन के वेगों) की व्याप्ति के लिये भी। अब यदि आलस्य या प्रमाद के कारण मनुष्य इस द्वितीय क्षेत्र को संकुचित कर लेगा, तो उसका आनंद पशुओ के आनंद से विशाल किसी प्रकार नही कहा जा सकेगा। अतः यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेत-बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम-से-कम वासना के रूप मे अतःकरण मे निहित है।

प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—(१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा, और (२) साहचर्य द्वारा। सुन्दर रूप के आधार पर जो प्रेम-भाव या लोभ (मेरे मानस-कोश मे दोनो का अर्थ प्रायः एक ही निकलता है) प्रतिष्ठित होता है, उसका हेतु सलक्ष्य होता है, और, जो केवल साहचर्य के प्रभाव से अंकुरित और पल्लवित होता है, वह एक प्रकार से हेतु-ज्ञान-शून्य होता है। यदि हम किसी किसान को उसकी झोपडी से हटाकर, किसी दूर देश मे ले जाकर, राजभवन मे टिका दे, तो वह उस झोपडी का, उसके छप्पर पर चढ़ी हुई कुम्हडे की बेल का, सामने के नीम के पेड का, द्वार पर बँधे हुए चौपायों का ध्यान करके आँसू बहाएगा। वह यह कभी नही समझता कि मेरा झोपड़ा इस राजभवन से सुंदर था, परंतु फिर भी झोपडे का प्रेम उसके हृदय मे बना हुआ है। यह प्रेम रूप-सौदर्यगत नही है, सच्चा, स्वाभाविक और हेतु-ज्ञान-शून्य प्रेम है। इस प्रेम को रूप-सौदर्य-गत प्रेम नही पहुँच सकता।

इससे यह स्पष्ट है कि अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते है, और अपना प्रेमानंद केवल इन शब्दों मे प्रकट करते है कि "अहा-हा! यह मैदान कैसा बेलबूटेदार कालीन को तरह फैला हुआ है, पेड किस प्रकार यहाँ से वहाँ तक एक पंक्ति मे चले गए है, लताओ का कैसा सुंदर मंडप-सा बन गया है, कैसी शीतल, मंद, सुगंध हवा चल रही है", उनका प्रेम कोई प्रेम नहीं—उसे अधूरा समझना चाहिए। वे प्रकृति के सच्चे उपासक नही। वे तमाशबीन हैं, और केवल अनोखापन, सजावट या चमत्कार देखने निकलते हैं। उनका हृदय मनुष्य-प्रवर्तित व्यापारों मे पडकर इतना कुंठित हो गया है कि उसमे, उन सामान्य प्राकृतिक परिस्थितियो मे, जिनमे अत्यंत आदिम काल मे मनुष्य-जाति ने अपना जीवन व्यतीत किया था, तथा उन प्राचीन मानव-व्यापारो में, जिनमे वन्य दशा से निकलकर वह अपने निर्वाह

और रक्षा के लिये लगी, लीन होने की वृत्ति दब गई। अथवा यों कहिए कि उनमें करोडों पीढियों को पार करके आनेवाली अंतस्संज्ञा-वर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नही रह गई, जिसे वासना या संस्कार कहते है। वे तडक-भडक, सजावट, रंगो की चमक-दमक, कलाओं की बारीकी पर भले ही मुग्ध हो सकते हो, पर सच्चे सहृदय नही कहे जा सकते।

कँकरीले टीलो, ऊसर पटपरो, पहाड के ऊबड-खाबड किनारो या बबूल करौंदे के झाडो मे क्या आकर्षित करनेवाली कोई बात नही होती? जो फारस की चाल के बागीचो के गोल चौखूटे कटाव, सीधी-सीधी रविशें, मेहँदी के बने भद्दे हाथी-घोड़े, काट छाँटकर सुडौल किए हुए सरो के पेडो की कतारे, एक पंक्ति मे फूले हुए गुलाब आदि देखकर ही वाह वाह करना जानते है, उनका साथ सच्चे भावुक सहृदयो को वैसा ही दुःखदायी होगा, जैसा सज्जनों को खलों का। हमारे प्राचीन पूर्वज भी उपवन और वाटिकाएँ लगाते थे। पर उनका आदर्श कुछ और था। उनका आदर्श वही था, जो अब तक चीन और योरप मे थोडा बहुत बना हुआ है। आजकल के पार्कों मे हम भारतीय आदर्श की छाया पाते है। हमारे यहाँ के उपवन वन के प्रतिरूप ही होते थे। जो वनो मे जाकर प्रकृति का शुद्ध स्वरूप और उसकी स्वच्छंद क्रीडा नही देख सकते थे, वे उपवनो मे ही जाकर उसका थोडा बहुत अनुभव कर लेते थे। वे सर्वत्र अपने को ही नही देखना चाहते थे। पेडों को मनुष्य की कवायद करते देखकर ही जो मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वे अपना ही रूप सर्वत्र देखना चाहते है, अहंकार वश अपने से बाहर प्रकृति की ओर देखने की इच्छा नहीं करते।

काव्य का जो चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान कराना नही), उसके साधन मे भी अहंकार का त्याग आवश्यक है। जब तक इस अहंकार से पीछा न छूटेगा, तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं

आ सकते। खेद है कि फारस की उस महफिली शायरी का कुसंस्कार भारतीयों के हृदय में भी इधर बहुत दिनों से जम रहा है, जिसमें चमन, गुल, बुलबुल, लाला, नरगिस आदि का ही कुछ वर्णन विलास की सामग्री के रूप में होता है—कोह, बयाबान आदि का उल्लेख किसी भारी विपत्ति या दुर्दिन के ही प्रसंग में मिलता है। फारस में क्या और पेड़ पौधे नहीं होते? पर उनसे वहाँ के शायरों को कोई मतलब नहीं। अलबुर्ज जैसे सुंदर पहाड़ का विशद वर्णन किस फारसी-काव्य में है? पर इधर वाल्मीकि को देखिए। उन्होंने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में केवल मंजरियों से छाए हुए रसालों, सुरभित सुमनों से लदी हुई मालती-लताओं, मकरंद-पराग-पूरित सरोजों का ही वर्णन नहीं किया, इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल और बहेड़े आदि जंगली पेड़ों का भी पूर्ण तल्लीनता के साथ वर्णन किया है। इसी प्रकार योरप के कवियों ने भी अपने गाँव के पास से बहते हुए नाले के किनारे उगने वाली झाड़ी या घास तक का नाम आँखों में आँसू भरकर लिया है। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य को उसके व्यापार-गर्त से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है—भारत और योरप की पद्धति में है।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कार-पूर्ण, विशद या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ाघाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं, वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते, अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं। **केवल असाधारणत्व के साक्षात्कार की यह रुचि स्थूल और भद्दी है,** और हृदय के गहरे तलों से संबंध नहीं रखती। जिस रुचि से प्रेरित होकर लोग आतशबाजी, जलूस वगैरह देखने दौड़ते हैं, यह वही रुचि है। काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की ओछी रुचि के कारण बहुत-से लोग अतिशयोक्ति-पूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने लगे। कोई बिहारी के विरह-वर्णन पर सिर हिलाता है, कोई 'यार'

की कमर गायब होने पर वाह-वाह करता है। कालिदास ने अत्यंत प्राकृतिक ढंग से रथ को धूल के आगे निकाला, तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया। पर मुबालगा जहाँ हद से ज़्यादा बढ़ा कि मज़ाक हुआ। खेद है कि उर्दू की शायरी ऐसे ही मज़ाक की सूरत में आ गई।

'अनूठी बात' सुनने की उत्कंठा रखने वाले जब काव्य-रसिक समझे जाने लगे तब नारायण पंडित-जैसे लोगों को सर्वत्र अद्भुत रस दिखाई देने लगा। उन्होंने कह ही डाला कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

भावों का उत्कर्ष दिखाने के लिये काव्य में कहीं-कहीं असाधारणत्व अवश्य अपेक्षित होता है, पर उतनी ही मात्रा में, जितनी से प्रकृत भाव दबने न पाए। इस उत्कर्ष के लिये कहीं-कहीं असाधारणत्व पहले आलंबन में अधिष्ठित होकर भाव के उत्कर्ष का कारण स्वरूप होता है। पर यह कहा जा चुका है कि भावों के उत्कर्ष के लिये भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर से गंभीर भावों का आलंबन हो सकती है। साहचर्य-जन्य प्रेम कितना बलवान् होता है, उसमें वृत्तियों को तल्लीन करने की कितनी शक्ति होती है, यह सब लोग जानते हैं, पर वह असाधारणत्व पर अवलंबित नहीं होता। जिनका हमारा लड़कपन में साथ रहा है, जिन पेड़ों के नीचे, जिन टीलों पर, जिन नदी-नालों के किनारे, हम अपने साथियों को लेकर बैठा करते थे, उनके प्रति हमारा प्रेम जीवन भर स्थायी होकर बना रहता है। अतः चमत्कारवादियों की यह समझ ठीक नहीं कि जहाँ असाधारणत्व होता है, वहीं रस का परिपाक होता है अन्यत्र नहीं।

प्रसंग-प्राप्त साधारण, असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है। काव्य क्षेत्र अजायबख़ाना या तुमाशगाह नहीं है। जो सच्चा

कवि है, उसके द्वारा अंकित साधारण वस्तुएँ भी मन को तल्लीन करने वाली होती हैं। साधारण के बीच मे यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कला-कुशल कवि का ही काम है। साधारण, असाधारण, अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करने वाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी है। साधारण के बीच मे ही असाधारण की प्रकृत अभिव्यक्ति हो सकती है। साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। अतः केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजन-प्रणाली के असाधारणत्व मे ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नही।

सारांश यह कि केवल असाधारणत्व-दर्शन की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नही है। शोभा और सौंदर्य की भावना के साथ साथ, जिनमे मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंश-परंपरागत स्मृति वासना के रूप मे बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र मे विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय कहे जा सकते है। पहले कह आए है कि वन्य और ग्रामीण, दोनों प्रकार के जीवन प्राचीन है, दोनों पेड-पौधों, पशु-पक्षियों, नदी-नालों और पर्वत-मैदानों के बीच व्यतीत होते है, अतः प्रकृति के अधिक रूपों के साथ संबन्ध रखते है। हम पेड-पौधों और पशु-पक्षियों से सम्बन्ध तोडकर नगरो मे आ बसे, पर उनके बिना रहा नही जाता। हम उन्हें हर वक्त पास न रखकर एक घेरे मे बन्द करते है, और कभी-कभी मन बहलाने को उनके पास चले जाते है। हमारा साथ उनसे भी छोडते नही बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों मे सुख से सोते हैं—

> तां कस्यांचिद्भवनबलभौ सुप्तपारावतायां
> नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।

गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते है, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ-म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की

रखवाली करते हैं और वासुदेवजी कभी-कभी दीवार फोडकर निकल पडते हैं। बरसात के दिनो मे जब सुर्खी-चूने की कडाई की पर्वा न करके हरी-हरी घास पुरानी छत पर निकल पडती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानो हमे ढूँढती हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझसे क्यो दूर-दूर भागे फिरते हो ?

वनो, पर्वतो, नदी-नालो, कछारो, पटपरो, खेतो, खेतो की नालियों, घास के बीच मे गई हुई डुरियां, हल-बैलो, झोपडों और श्रम मे लगे हुए किसानों इत्यादि मे जो आकर्षण हमारे लिये है, वह हमारे अंत.करण मे निहित वासना के कारण है, असाधारण चमत्कार या अपूर्व शोभा के कारण नही। जो केवल पावस की हरियाली और वसत के पुष्प-हास के समय ही वनो और खेतो को देखकर प्रसन्न हो सकते है, जिन्हे केवल मंजरी-मंडित रसालो, प्रफुल्ल कदंबो और सघन मालती-कुंजो का ही दर्शन प्रिय लगता है, ग्रीष्म के खुले हुए पटपर खेत और मैदान शिशिर की पत्र-विहीन नंगी वृक्षावली और झाड-बबूल आदि जिनके हृदय को कुछ भी स्पर्श नही करते, उनकी प्रवृत्ति राजसी समझनी चाहिए। वे केवल अपने विलास या सुख की सामग्री प्रकृति मे ढूँढते है। उनमे उस 'सत्त्व' की कमी है, जो सत्ता-मात्र के साथ एकीकरण की अनुभूति द्वारा लीन करके आत्मसत्ता के विभुत्व का आभास देती है। संपूर्ण सत्ता, क्या भौतिक क्या आध्यात्मिक, एक ही परम सत्ता या परम भाव के अंतर्गत है। अतः ज्ञान या तर्क-बुद्धि द्वारा हम जिस अद्वैत भाव तक पहुँचते है उसी भाव तक इस 'सत्त्व' गुण के बल पर हमारी रागात्मिका वृत्ति भी पहुँचती है। इस प्रकार अंतत. दोनों वृत्तियो का समन्वय हो जाता है। यदि हम ज्ञान द्वारा सर्वभूत को आत्मवत् जान सकते है, तो रागात्मिका वृत्ति द्वारा उसका अनुभव भी कर सकते है। तर्क-बुद्धि से हारकर परम ज्ञानी भी इस 'स्वानुभूति' का आश्रय लेते है। अतः परमार्थ-दृष्टि से दर्शन और काव्य, दोनों, अंत.करण की भिन्न-भिन्न वृत्तियो का आश्रय लेकर, एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं।

इस व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रंथों मे निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं-कहीं बहुत खटकती है। वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दाम्पत्य रति के उद्दीपन-मात्र मानने से संतोष नहीं होता।

पहले कहा जा चुका है कि रस के संयोजक जो विभाव आदि है, वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए। पर वहाँ कल्पना को कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना पड़ता है, उसकी श्रेष्ठता कवि की सहृदयता से सम्बन्ध रखती है, अत. उस कृत्रिमता के काल मे, जिसमे कविता केवल अभ्यास-गम्य समझी जाने लगी, कल्पना का प्रयोग काव्य का प्रकृत स्वरूप संगठित करने मे कम होकर अलंकार आदि बाह्य आडबर फैलाने मे अधिक होने लगा। पर विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण-रूप से हो ले, तब आगे और कुछ होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्र-मय होता है, अत. जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होती है, वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने मे समर्थ हो सकता है। पिछले कवियो मे इस वस्तु-चित्र का विस्तार क्रमश कम होता गया। प्राकृतिक दृश्यो के चित्रण मे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियो की कल्पना ऐसे रूपो की योजना करने मे, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने मे, प्रयुक्त होती थी, जिनसे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलंबन होती थी। वे जिन दृश्यो को अंकित कर गए है, उनके ऐसे ब्योरो को उन्होने सामने रक्खा है, जिनसे एक भरा-पूरा चित्र सामने आता है। ऐसे दृश्य अंकित करने के लिये प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता होती है, उसके स्वरूप मे इस प्रकार तल्लीन होना पड़ता है कि एक-एक ब्योरे पर ध्यान जाय। उन्हे इस बात का अनुभव रहता था कि कल्पना के सहारे चित्र के भीतर एक-एक वस्तु और व्यापार को संश्लिष्ट-रूप मे भरना जितना ज़रूरी है, उतना उपमा आदि ढूँढना नही। इसी से उनके चित्र भरे-पूरे

है। और इधर के कवियों ने जहाँ परम्परा-पालन के लिये ऐसे चित्र खींचे भी है, वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या चित्र भी नही हुए है उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए है, जैसा किसी चित्रकार का अधूरा छोड़ा हुआ चित्र, जिसमे कही एक रेखा यहाँ लगी है, कही वहाँ, कही कुछ रङ्ग भरा जा सका है, कही जगह खाली है। चित्रकला के प्रयोगो द्वारा इस बात की परीक्षा हो सकती है। वाल्मीकि के वर्षावर्णन को लीजिए, और जो-जो वस्तुएँ आती जायँ, उनकी आकृति ऐसी सावधानी से अंकित करते चलिए कि कोई वस्तु छूटने न पावे। फिर गोस्वामी तुलसीदासजी का भागवत से लिया गया वर्षा-वर्णन लेकर ऐसा ही कीजिए, और दोनों चित्रों को इस बात का ध्यान रखकर मिलाइए कि ये किष्किधा की पर्वत-स्थली के चित्र है।

आदि-कवि का कैसा सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण है, वस्तुओं और व्यापारो की कैसी सश्लिष्ट योजना है, उन्होने किस प्रकार एक-एक पेचीले ब्योरे पर ध्यान दिया है, यह दिखाने के लिये नीचे कुछ पद्य दिए जाते है—

व्यामिश्रितं सर्जकदंबपुष्पै-
नंवं जलं पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातं
शैलापगाः शीघ्रतरं वहंति॥

रसाकुलं षट्पदसन्निकाशं
प्रभुज्यते जंबुफलं प्रकामम्।
अनेकवर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्रपुटेषु लग्नम्।

हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगा
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबंति ॥*

अब पंचवटी मे लक्ष्मण हेमंत का कैसा दृश्य देख रहे हैं, उसका एक छोटा-सा नमूना लीजिए—

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला ।
वनाना शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।
अत्यंततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
अवश्याय तमोनद्धा नीहारतमसावृताः ।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यंते विपुष्पा वनराजयः ॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेयसारसाः ।
हिमार्द्रबालुकैस्तीरैः सरितो भाति साप्रतम् ॥
जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भाति कमलाकराः ॥ (अरण्य १६ सर्ग,†

---

* पर्वत की नदिया सर्ज और कदब के फूलों से मिश्रित पर्वत धातुओ (गेरू) से लाल, नए गिरे जल से कैसी शीघ्रता से बह रही है, जिनके साथ मोर बोल रहे है। रस से भरे, भौरों के समान, काले-काले जामुन के फलो को लोग खा रहे है। अनेक रग के पके आम के फल वायु के झोंके से टूटकर भूमि पर गिरते हैं। प्यासे पक्षी, जिनके पख पानी से बिगट गए हैं, मोती के समान इद्र के दिए हुए जल को, जो पत्तों की नोक पर लगा हुआ है, हर्षित होकर पी रहे है।

† वन की भूमि, जिसकी हरी-हरी घास पाला गिरने से कुछ-कुछ गीली हो गई है, नई धूप पडने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यत प्यासा जगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूड सिकोडता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अधकार में सोए से जान पडते है। नदिया, जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें के सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते है, हिम से आर्द्र बालू के तटो से ही पहचानी जाती है। कमल, जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड गए है, जिनकी केसर और कर्णिका टूट फूटकर छितरा गई है, पाले से ध्वस्त होकर नाल-मात्र खडे हैं।

महाकवि कालिदास ने भी जहाँ स्थल-वर्णन को सामने रखकर दृश्य अंकित किया है वहाँ उनका निरीक्षण अत्यंत सूक्ष्म है—

आमेखलं संचरतां घनानां
छायामधःसानुगतां निषेव्य ।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयंते
शृंगाणि यस्यातपवंति सिद्धाः ॥
कपोलकंडूः करिभिर्विनेतुं
विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम् ।
यत्र स्रुतक्षीरतया प्रसूत
सानूनि गंधः सुरभीकरोति ॥
भागीरथीनिर्झरसीकराणां
वोढा मुहुःकंपितदेवदारुः ।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातै-
रासेव्यते भिन्नशिखंडिबर्हः ॥*
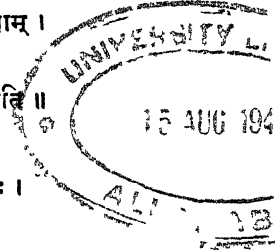
उपमाएँ देने में कालिदास अद्वितीय समझे जाते हैं, पर वस्तु-चित्र को उपमा आदि का अधिक बोझ लादकर उन्होंने भद्दा नहीं किया। उनका मेघदूत—विशेषकर पूर्वमेघ—तो यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र ही है। ऐसा काव्य तो संस्कृत क्या, किसी भाषा में भी शायद ही हो। जिनमें ऐतिहासिक सहृदयता है, देश के प्रकृत स्वरूप के साथ

* मेखला तक घूमनेवाले मेघों के नीचे के सिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े गए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गङ्गा के झरने के कणों को ले जानेवाला, बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।

जिनके हृदय का सामंजस्य है, मेघदूत उनके लिये भावों का भरा-पूरा भंडार है। जिनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है, जो सर्वत्र उपमा, उत्प्रेक्षा ही ढूंढा करते हैं, जो "अनूठी उक्तियों" पर ही वाह वाह किया करते हैं, उनके लिये चाहे उसमें कुछ भी न हो।

कालिदास ने वन-श्री, पुर की शोभा आदि का ही वर्णन एक-एक ब्यारे पर दृष्टि ले जाकर नहीं किया, उजाड खँडहरों का भी ऐसा ही वर्णन किया है, उनका ऐसा स्वरूप सामने रक्खा है, जिसे अतीत स्वरूप के साथ मिलाने पर करुणा का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कुश जब कुशावती में जाकर राज्य करने लगे, तब अयोध्या उजड गई। एक दिन रात को अयोध्या की अधिदेवता स्त्री का रूप धरकर उनके पास गई, और अयोध्या की हीन दशा का अत्यंत मर्मस्पर्शी शब्दों में वर्णन किया। उस प्रसंग के केवल दो श्लोक नीचे दिए जाते हैं, जिनसे सारे वर्णन का अनुमान पाठक कर लेंगे—

> कालांतरश्यामसुधेषु नक्तम्
> इतस्ततो रूढतृणांकुरेषु।
> त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि
> हर्म्येषु मूर्च्छंति न चंद्रपादाः॥
>
> रात्रावनाविष्कृतदीपभासः
> कांतामुखश्रीवियुता दिवापि।
> तिरस्क्रियंते कृमितंतुजालै-
> र्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः॥ †

---

† समय के फेर से काले पडे हुए चूनेवाले मंदिरों में, जिनमें इधर उधर घास के अंकुर उगे हैं, रात्रि के समय मोतीं की माला के समान वे चंद्र-किरणें अब प्रकाश नहीं करतीं। रात्रि में दीपक के प्रकाश से रहित, और दिन में स्त्रियों के मुख की कांति से शून्य, जिनमें से धुएं का निकलना बंद हो गया है, ऐसे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढक गए हैं।

भाव-मूर्ति भवभूति ने यद्यपि शब्दालंकार की ओर अधिक रुचि दिखाई, पर प्रकृति के रूप-माधुर्य की ओर उनका पूर्ण ध्यान रहा। नाटक में स्थल-चित्रण के लिये पूर्ण अवकाश न होने पर भी उन्होंने बीच बीच में उसकी जो झलक दिखाई, उससे वन्य प्राकृतिक दृश्यों का गूढ़ अनुराग लक्षित होता है। खेद है कि जिस कल्पना का उपयोग मुख्यतः पदार्थों का रूप संघटित करने, प्राकृतिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करने और इस प्रकार किसी दृश्य-खंड के ब्योरे पूरे करने में होना चाहिए था, उसका प्रयोग पिछले कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत आदि की उद्भावना करने में ही अधिक किया। महाकवि माघ प्रबंध रचना में जैसे कुशल थे, वैसे ही उसके पक्षपाती भी थे, पर उनकी प्रवृत्ति हम प्रस्तुत वस्तु-विन्यास की ओर कम और अलंकार-योजना की ओर अधिक पाते हैं। उनके दृश्य-वर्णन में वाल्मीकि आदि प्राचीन कवियों का-सा प्रकृति का रूप विश्लेषण नहीं है, उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, अर्थांतर-न्यास आदि की भरमार है। उदाहरण के लिये उनके प्रभात-वर्णन से कुछ श्लोक दिए जाते हैं—

अरुणजलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा
बहुलमधुपमाला कज्जलेंदीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरंती
रजनिमचिरजाता पूर्वसंध्या सुतेव॥

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखै.
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥

व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत्
तिमिरमखिलमस्तं तावदेवाऽरुणेन।

परपरिभविते जस्तन्वतामाशु कर्तुं
प्रभवति हि विपक्षोच्छेद मग्रेसरोऽपि ॥*

इस वर्णन मे यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य की एक-एक सूक्ष्म वस्तु और व्यापार प्रत्यक्ष करके चित्र पूरा करने की उतनी चिंता नही है, जितनी कि अद्भुत-अद्भुत उपमाओ आदि के द्वारा एक कौतुक खडा करने की। पर काव्य कौतुक नहीं है, उसका उद्देश्य गंभीर है।

पाश्चात्य काव्य-समीक्षक किसी वर्णन के ज्ञातृपक्ष (Subjective) और ज्ञेय-पक्ष (Objective)—अथवा विषयि-पक्ष और विषय-पक्ष—दो पक्ष लिया करते हैं। जो वस्तुएँ बाह्य प्रकृति मे हम देख रहे हैं, उनका चित्रण ज्ञेय-पक्ष के अंतर्गत हुआ, और उन वस्तुओ के प्रभाव से हमारे चित्त मे जो भाव या आभास उत्पन्न हो रहे है, वे ज्ञातृपक्ष के अंतर्गत हुए। अत उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के आधिक्य के पक्षपाती कह सकते है कि पिछले कवियों के दृश्य-वर्णन ज्ञातृपक्ष-प्रधान है। ठीक है, पर वस्तु-विन्यास प्रधान कार्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पडा, तो पाठक के हृदय मे दृश्य के सौंदर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोडा-बहुत आप-से आप होगा। वस्तुओं के संबंध मे इन भावों का ठीक ठीक अनुभव करने मे सहारा देने के लिये कवि कही बीच-बीच

---

* अरुण कमल-रूपी कोमल हाथ पैरवाली, मधुपमाला-रूपी कज्जल-युक्त कमल-नेत्रवाली, पक्षियों के कलरव-रूपी रोदनवाली यह प्रभात वेला सद्योजात बालिका के समान रात्रि-रूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घडा खींचते समय स्त्रिया कुछ कोलाहल करती है उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशा-रूपी स्त्रिया, दूर तक फैली हुई किरण-रूपा रस्सियों से सूर्य-रूपी घडे को बाधकर, बडे भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खीचकर ऊपर निकाल रही है। सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अधकार दूर कर दिया, वैरियो को नष्ट करनेवाले स्वामियों के आगे चलनेवाला सेवक भी शत्रुओ को मार भगाने मे समर्थ होता है।

मे अपने अंतःकरण की भी झलक दिखाता चले, तो यहाँ तक ठीक है।

यह झलक दो प्रकार की हो सकती है—भावमय और अपर-वस्तुमय। जैसे, किसी ने कहा—"तालाब के उस किनारे पर खिले कमल कैसे मनोहर लगते है !" यहाँ कमलो के दर्शन से सौदर्य का जो भाव चित्त मे उदित हुआ, वह वाच्य द्वारा स्पष्ट कह दिया गया। यही बात यदि यो कही जाय कि "तालाब के उस किनारे पर खिले कमल ऐसे लगते हैं, मानों प्रभात के गगन-तट पर की ललाई," तो सौदर्य का भाव स्पष्ट न कहा जाकर दूसरी ऐसी वस्तु सामने ला दी गई, जिसके साथ भी वैसे ही सौदर्य का भाव लगा हुआ है। एक मे भाव वाच्य द्वारा प्रकट किया गया दूसरे मे अलंकार-रूप गुणीभूत व्यंग्य द्वारा। इससे स्पष्ट है कि दृश्य-वर्णन करते समय कवि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा वर्ण्य वस्तुओ के मेल मे जो दूसरी वस्तुएँ रखता है वह केवल भाव को तीव्र करने के लिये। अत ये दूसरी वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिएं, जिनसे प्राय. सब मनुष्यों के चित्त मे वे ही भाव उदित होते हो जो वर्ण्य वस्तुओं से होते है। यो ही खिलवाड के लिये बार-बार प्रसंग-प्राप्त वस्तुओ से श्रोता या पाठक का ध्यान हटा कर दूसरी वस्तुओं की ओर ले जाना, जो प्रसंगानुकूल भाव उद्दीप्त करने मे भी सहायक नहो, काव्य के गाभीर्य और गौरव को नष्ट करना है, उसकी मर्यादा बिगाड़ना है। इसी प्रकार बात-बात मे 'अहाहा ! कैसा मनोहर है ! कैसा आह्लाद-जनक है !' ऐसे भावोद्गार भी भद्देपन से खाली नही, और काव्य-शिष्टता के विरुद्ध है। तात्पर्य यह कि भावो की अनुभूति मे सहायता देने के लिये केवल कही कही उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग उतना ही उचित है, जितने से बिंब ग्रहण करने में, दृश्य का चित्र हृदयंगम करने मे, श्रोता या पाठक को बाधा न पडे।

जहाँ एक व्यापार के मेल मे दूसरा व्यापार रक्खा जाता है, वहाँ या तो (क) प्रथम व्यापार से उत्पन्न भाव को अधिक तीव्र करना होता

है, जैसे हिलती हुई मजरियाँ मानो भौंरो को पास बुला रही हैं, अथवा (ख) द्वितीय व्यापार का सृष्टि के बीच एक गोचर प्रतिरूप दिखाना, जैसे—

"बुद-अघात सहैं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे।"

दूसरी अवस्था मे प्रस्तुत दृश्य स्वय सृष्टि या जीवन के किसी रहस्य का गोचर प्रतिबिंबवत हो जाता है। अत उस प्रतिबिंब का प्रतिबिब ग्रहण करने मे कल्पना उत्साह नही दिखाती। इसी से जहाँ दृश्य-चित्रण इष्ट होता है, वहाँ के लिये यह अवस्था अनुकूल नही होती।

वाल्मीकिजी भी बीच बीच मे उपमाएँ देते गए हैं, पर उससे उनके सूक्ष्म निरीक्षण मे कसर नही आने पाई है। वर्षा मे पर्वत की गेरू से मिलकर नदियो की धारा का लाल होकर बहना, पर्वत के ऊपर से पानी की मोटी धारा का काली शिलाओ पर गिरकर छितराना, पेडो पर गिरे वर्षा के जल का पत्तियो की नोको पर से बूँद-बूँद टपकना और पक्षियो का उसे पीना हेमंत मे कमलो के नाल-मात्र का खडा रहना और उसके छोर पर केसर का छितराना, ऐसे-ऐसे व्यापारो को वह सामने लाते चले गए है। सुदर-काड के पाँचवे सर्ग मे जो छोटा-सा "चद्र-नामा" है, वह इसके विरोध मे नही उपस्थित किया जा सकता; क्योकि वह एक प्रकार की स्तुति या वर्णन-मात्र है। वहाँ कोई दृश्य-चित्रण नही है।

विषयी या ज्ञाता अपने चारो ओर उपस्थित वस्तुओ को कभी कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावो के रंग मे देखता है, इसका जैसा सुंदर उदाहरण आदि-कवि ने दिया है, वह वैसा अन्यत्र कही कदाचित् ही मिले। पंचवटी मे आश्रम बनाकर हेमत मे जब लक्ष्मण एक एक वस्तु और प्राकृतिक व्यापार का निरीक्षण करने लगे, उस समय पाले से धुँधली पडी हुई चाँदनी उन्हे ऐसी दिखाई पडी, जैसी धूप से साँवली पडी हुई सीता—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्या न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

इसी प्रकार सुग्रीव को राज्य देकर माल्यवान् पर्वत पर निवास करते हुए, सीता के विरह मे व्याकुल, भगवान् रामचंद्र को वर्षा आने पर ग्रीष्म की धूप से संतप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई देती है, काले-काले बादलो के बीच मे चमकती हुई बिजली रावण की गोद मे छटपटाती हुई वैदेही के समान दिखाई पड़ती है, और फूले हुए अर्जुन के वृक्षों से युक्त तथा केतकी से सुगंधित शैल ऐसा लगता है, जैसे शत्रु से रहित होकर सुग्रीव अभिषेक की जलधारा से सींचा जाता हो। यथा—

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसंतप्ता मही बाष्पं विमुंचति॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरंती प्रतिभाति माम्।
स्फुरंती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी॥
एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकीरधिवासितः।
सुग्रीव इव शांतारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥

ऐसा अनुमान होता है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से, दृश्य वर्णन के संबध मे कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन मे तो वस्तु वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन मे चित्रण उतना आवश्यक नही समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओ का कथन-मात्र करके भावो के उद्दीपन का वर्णन। जान पडता है, ऋतु वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यो के रूप मे पढ़े जाने लगे, जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमे अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा। कालिदास के ऋतु-संहार और रघुवंश के नवें सर्ग मे सन्निविष्ट वसंत-वर्णन से इसका कुछ आभास मिलता है। उक्त वर्णन के श्लोक इस ढंग के है—

कुसुमजन्म ततो नवपल्लवा-
स्तदनु षट्पदकोकिलकूजितम् ।
इति यथाक्रममाविरभून्मधु-
र्द्रुमवतीमवतीर्य वनस्थलीम् ॥

रीति-ग्रंथो के अधिक बनने और प्रचार पाने से क्रमश यह ढंग जोर पकडता गया। प्राकृतिक वस्तु व्यापार का सूक्ष्म-निरीक्षण धीरे-धीरे कम होता गया। किस ऋतु मे क्या-क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार 'प्रत्यक्ष' अनुभव नही रह गया, 'आप्त-शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन मे जो कदंब, कुटज, इंद्रवधू, मेघ गर्जन, विद्युत इत्यादि का नाम लिया जाता रहा, वह इसलिये कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी—

कदंबनिबकुटजै शाद्वलै· स्येंद्रगोपकैः ।
मेघैर्वातै· सुखस्पर्शै· प्रावृट्काल प्रदर्शयेत् ॥

कहना नही होगा कि हिंदी के कवियो के हिस्से मे यही आया। गिनी गिनाई वस्तुओ के नाम लेकर अर्थ-ग्रहण-मात्र कराना अधिकतर उनका काम हुआ, सूक्ष्मरूप-विवरण और आधार-आधेय की संश्लिष्ट योजना के साथ 'बिंब-ग्रहण' कराना नही।

ऋतु-वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियो को भी औरो की देखा-देखी दंगल का शौक पैदा हुआ। राज-सभाओं मे ललकार कर टेढी-मेढी बिकट समस्याएँ दी जाने लगी, और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्भुत-अद्भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्त्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बे-सिर-पैर की होती, उतनी ही वाहवाही मिलती। काश्मीर के मंखक कवि जब अपना श्रीकण्ठचरित काव्य काश्मीर के राजा की सभा मे ले गए, तब वहाँ कन्नौज के राजा गोविन्दचंद्र के दूत सुहल ने उन्हे यह समस्या दी—

एतद्बभ्रुकचानुकारि किरणं राजद्रुहोऽह्न शिर-
श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम् ।

अर्थात्—नेवले के बालों के सदृश पिछली किरणों को प्रकट करता हुआ सूर्य का यह बिंब, चंद्रमा का द्रोह करनेवाले दिन के कटे हुए सर के समान, आकाश से पश्चिम-समुद्र मे गिरता है।

इसकी पूर्ति मंखक ने इस प्रकार की—

> एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते-
> संध्याग्नौ विरचय्यतारक मिषज्जातास्थि शेषस्थितिः।

अर्थात्—दिशाओं मे उत्पन्न संध्या-रूपी प्रचंड अग्नि मे अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप मे) अस्थि-शेष हो गई। (काष्ठोत्थिते = काष्ठा + उत्थिते और काष्ठा + उत्थिते (काष्ठा = दिशा, काष्ठा = मकड़ी)। मतलब यह कि सती हो जानेवाली आकाश-श्री की जो हड्डियाँ रह गई, वे ही ये तारे है।

जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी, वह बाजीगर का तमाशा करने लगी। होते होते यहाँ तक हुआ कि "पिपीलिका नृत्यति वह्निमध्ये" और "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे" की नौबत आ गई।

कहाँ ऋषि-कवि का पाले से धुँधले चंद्रमा का मुँह की भाप से अंधे दर्पण के साथ मिलान, और कहाँ तारे और हड्डियाँ! ख़ैर, यहाँ दोनो का रङ्ग तो सफ़ेद है? आगे चलकर तो यह दशा हुई कि दो-दो वस्तुओ को लेकर साग रूपक बाँधते चले जाते हैं, वे किसी बात मे परस्पर मिलती जुलती भी है या नही, इससे कोई मतलब नही, साग रूपक की रस्म तो अदा हो रही है। दूसरी बात विचारने की यह है कि संध्या समय अस्त होते हुए सूर्य को देख मंखक कवि के हृदय मे किसी भाव का उदय हुआ या नही, उनके कथन से किसी भाव की व्यंजना होती है या नही? यहाँ अस्त होता हुआ सूर्य 'आलंबन' और कवि ही आश्रय माना जा सकता है। पर मेरे देखने मे तो यहाँ कवि का

हृदय एकदम तटस्थ है। उससे सारे वर्णन से कोई मतलब ही नही। उसमे रति, शोक आदि किसी भाव का पता नही लगता। ऐसे पद्यो को काव्य मे परिगणित देख यदि कोई "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की व्याप्ति मे सदेह कर बैठे, तो उसका क्या दोष? 'ललाई के बीच सूर्य का बिब समुद्र के छोर पर डूबा, और तारे छिटक गए", इतना ही कथन यदि प्रधान होता, तो वह दृश्य कवि और श्रोता दोनों के रति भाव का आलंबन होकर काव्य कहला भी सकता था, पर अलंकार से एकदम आक्रात होकर वह काव्य का स्वरूप ही खो बैठा। यदि कहिए कि यहाँ अलंकार द्वारा उक्त दृश्य-रूप वस्तु व्यंग्य है, तो भी ठीक नही, क्योंकि 'विभाव' व्यङ्ग नही हुआ करता। 'विभाव' मे शब्द-चित्र द्वारा उन वस्तुओ के स्वरूप की प्रतिष्ठा करनी होती है, जो भावो की आश्रय, आलंबन और उद्दीपन होती है। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है, तब भावों के व्यापार का आरम्भ होता है। मुक्तक मे जहाँ नायकनायिका का चित्रण नही होता, वहाँ उनका ग्रहण 'आक्षेप' द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नही।

दृश्य वर्णन मे उपमा उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है, इसकी मनोविज्ञान की रीति से भी परीक्षा हो सकती है। एक पर्वत-स्थली का दृश्य वर्णन करके किसी को सुनाइए। फिर महीने-दो-महीने पीछे उससे उसी दृश्य का कुछ वर्णन करने के लिए कहिए। आप देखेगे कि उस संपूर्ण दृश्य की सुसंगत योजना करनेवाली वस्तुओं और व्यापारो मे से वह बहुतो को कह जायगा, पर आपकी दी हुई उपमाओ मे से शायद ही किसी का उसे स्मरण हो। इसका मतलब यही है कि उस वर्णन के जितने अंश पर हृदय की तल्लीनता के कारण पूरा ध्यान रहा, उसका संस्कार बना रहा, और इसलिये संकेत पाकर उसकी तो पुनरुद्भावना हुई, शेष अंश छूट गया।

उपन्यास

लेखक—श्रीयुत प्रेमचन्द जी
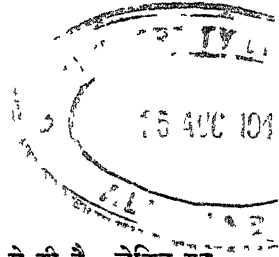
उपन्यास की परिभाषा विद्वानो ने कई प्रकार से की है, लेकिन यह कायदा है कि जो चीज जितनी ही सरल होती है उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कविता की परिभाषा आज तक नही हो सकी। जितने विद्वान् हैं उतनी ही परिभाषाएँ है। किन्ही दो विद्वानो की राये नही मिलती। उपन्यास के विषय मे भी यही बात कही जा सकती है। इसकी कोई ऐसी परिभापा नही है जिसपर सभी लोग सहमत हो। मै उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र मात्र समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यो को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। किन्ही भी दो आदमियों की सूरते नही मिलती, उसी भाँति आदमियों के चरित्र भी नही मिलते। जैसे सब आदमियो के हाथ, पाँव, आँखे, कान, नाक, मुँह होते है, पर इतनी समानता पर भी उनमे विभिन्नता मौजूद रहती है उसी भाँति सब आदमियो के चरित्रो मे भी बहुत कुछ समानता होते हुए कुछ विभिन्नताये होती है। यही चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व मे भिन्नत्व और विभिन्नत्व मे अभिन्नत्व—दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्त्तव्य है। संतान-प्रेम मानव चरित्र का एक व्यापक गुण है। ऐसा कौन प्राणी होगा जिसे अपनी संतान प्यारी न हो। लेकिन इस संतान-प्रेम की मात्राये है, उसके भेद है। कोई तो संतान के लिए मर मिटता है, उसके लिए कुछ छोड जाने के लिए आप नाना प्रकार के कष्ट झेलता है, लेकिन धर्मभीरुता के कारण अनुचित रीति से धन-संचय नही

करता। उसे शंका होती है कि कही इसका परिणाम हमारी संतान के लिए बुरा न हो। कोई औचित्य का लेश मात्र भी विचार नही करता, जिस तरह भी हो कुछ धन-संचय करना अपना ध्येय समझता है। चाहे इसके लिये उसे दूसरों का गला ही क्यों न काटना पडे। वह संतान-प्रेम पर अपनी आत्मा को भी बलिदान कर देता है। एक तीसरा सतान-प्रेम वह है जहाँ संतान की सच्चरित्रता प्रधान कारण होती है, जब कि पिता संतान का कुचरित्र देखकर उससे उदासीन हो जाता है, उसके लिये कुछ छोड जाना या कर जाना व्यर्थ समझता है। अगर आप विचार करेंगे तो इसी सतान-प्रेम के अगणित भेद आप को मिलेंगे। इसी भाँति अन्य मानवी गुणों की भी मात्राएँ और भेद है। हमारा चरित्राध्ययन जितना हो सूक्ष्म, जितना ही विस्तृत होगा, उतनी ही सफलता से हम चरित्रो का चित्रण कर सकेंगे। संतान-प्रेम की एक दशा यह भी है जब पुत्र को कुमार्ग पर चलते देखकर पिता उसका घातक शत्रु हो जाता है। वह भी संतान-प्रेम ही है जब पिता के लिये पुत्र घी का लड्डू होता है, जिसका टेढापन उसके स्वाद मे बाधक नही होता। वह सतान-प्रेम भी देखने मे आता है जहाँ शराबी, जुआरी पिता पुत्र-प्रेम के वशीभूत होकर यह सारी बुरी आदतें छोड देता है।

अब यहाँ प्रश्न होता है कि उपन्यासकार को इन चरित्रों का अध्ययन करके उनको पाठक के सामने रख देना चाहिये, उसमे अपनी तरफ से काट-छाँट, कमीबेशी कुछ न करनी चाहिए, या किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये चरित्रो मे कुछ परिवर्तन भी कर देना चाहिए।

यही से उपन्यासकारों के दो गरोह हो गए हैं। एक आदर्शवादी दूसरा यथार्थवादी। यथार्थवादी चरित्रो को पाठक के सामने उनके यथार्थ, नग्न रूप मे रख देता है। उसे इससे कुछ मतलब नही कि सच्चरित्रता का परिणाम बुरा होता है, या कुचरित्रता का परिणाम अच्छा। उसके चरित्र अपनी कमज़ोरियाँ या खूबियाँ दिखाते हुए अपनी जीवन-लीला समाप्त करते हैं, और चूँकि संसार में सदैव नेकी का फल नेक और बदी का

फल बद नही होता, बल्कि इसके विपरीत हुआ करता है, नेक आदमी धक्के खाते हैं, यातनाये सहते हैं, मुसीबते झेलते हैं, अपमानित होते हैं। उनकी नेकी का फल उलटा मिलता है। बुरे आदमी चैन करते हैं, नामवर होते हैं, यशस्वी बनते हैं, उनकी बदी का फल उलटा मिलता है। प्रकृति का नियम विचित्र है। यथार्थवादी अनुभव की बेडियों मे जकडा होता है। और चूंकि संसार मे बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है, यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र मे भी कुछ न कुछ दाग़ धब्बा रहते है, इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओ और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है। वास्तव मे यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव-चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ बुराई ही बुराई नजर आने लगती है। इसमे सदेह नही कि समाज की कुप्रथा की ओर उसका ध्यान दिलाने के लिये यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत संभव है कि हम उस बुराई को दिखाने मे अत्युक्ति से काम ले और चित्र को उससे कही काला दिखाये जितना वह वास्तव मे है। लेकिन जब वह दुर्बलताओ का चित्रण करने मे शिष्टता की सीमाओ स आगे बढ जाता है, तो वह आपत्तिजनक हो जाता है। फिर मानव स्वभाव की एक विशेषता यह भी है कि वह जिस छल और क्षुद्रता और कपट से घिरा हुआ है, उसी की पुनरावृत्ति उसके चित्त को प्रसन्न नही कर सकती। वह थोडी देर के लिये ऐसे संसार मे उडकर पहुँच जाना चाहता है जहाँ उसके चित्त को ऐसे कुत्सित भावों से नजात मिले, वह भूल जाय कि मै चिन्ताओं के बंधन मे पडा हुआ हूँ, जहाँ उसे सज्जन, सहृदय, उदार प्राणियों के दर्शन हों, जहाँ छल और कपट, विरोध और वैमनस्य का ऐसा प्राधान्य न हो। उसके दिल मे ख़याल होता है कि जब हमे किस्से-कहानियो मे भी उन्ही लोगों से साबका है जिनके साथ आठों पहर व्यवहार करना पडता है तो फिर ऐसी पुस्तक पढे ही क्यो? अंधेरी कोठरी मे काम करते करते जब हम थक जाते है तो इच्छा होती है कि किसी

बाग मे निकलकर निर्मल स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। इस कमी को आदर्शवाद पूरा करता है। वह हमे ऐसे चरित्रो से परिचित कराता है जिनके हृदय पवित्र होते है, जो स्वार्थ और वासना से रहित होते है, जो साधु प्रकृति के होते हैं। यद्यपि ऐसे चरित्र व्यवहार-कुशल नही होते, उनकी सरलता उन्हें सासारिक विषयो मे धोखा देती हैं, लेकिन काइयेपन से ऊबे हुए प्राणियो को ऐसे सरल, ऐसे व्यावहारिक ज्ञान-विहीन चरित्रों के दर्शन से एक विशेष आनन्द होता है। यथार्थवाद यदि हमारी आँखे खोल देता है तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद मे यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चरित्रो को न चित्रित कर बैठे जो सिद्धातों की मूर्ति मात्र हो। किसी देवता की कामना करना मुश्किल नही है, लेकिन उस देवता मे प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है।

इसलिये वही उपन्यास उच्चकोटि के समझे जाते है जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कह सकते है। आदर्श को सजीव बनाने ही के लिये यथार्थ का उपयोग होना चाहिये और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि करनी है जो अपने सद् व्यवहार और सद् विचार से पाठक को मोहित कर ले। जिस उपन्यास के चरित्रो मे यह गुण नही है वह दो कौडी का है। चरित्र को उत्कृष्ट और आदर्श बनाने के लिये यह ज़रूरी नही कि यह निर्दोष हो। महान् से महान् पुरुषों मे भी कुछ न कुछ कमजोरियाँ होती है। चरित्र को सजीव बनाने के लिये उसकी कमजोरियों का दिग्दर्शन कराने से कोई हानि नही होती। यही कमज़ोरियाँ उस चरित्र को मनुष्य बना देती हैं। निर्दोष चरित्र तो देवता हो जायगा और हम उसे समझ ही न सकेंगे। ऐसे चरित्र का हमारे ऊपर कोई प्रभाव नही पड सकता। हमारे प्राचीन साहित्य पर आदर्शों की छाप लगी हुई है। हमारा प्राचीन साहित्य केवल मनोरंजन के लिये न था। उसका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के

साथ आत्मपरिष्कार भी था। साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्-भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है। कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये। इस मनोरथ को सिद्ध करने के लिये ज़रूरत है कि उसके चरित्र Positive हों, जो प्रलोभनों के आगे सिर न झुकाएँ, बल्कि उनको परास्त करें, जो वासनाओं के पंजे में न फँसे, बल्कि उनका दमन करें, जो किसी विजयी सेनापति की भाँति शत्रुओं का संहार करके विजय-नाद करते हुए निकलें। ऐसे ही चरित्रों का हमारे ऊपर सब से अधिक प्रभाव पड़ता है।

साहित्य का सबसे ऊँचा आदर्श यह है कि उसकी रचना केवल कला की पूर्ति के लिये की जाय। कला के लिये कला के सिद्धान्त पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वह साहित्य चिरायु हो सकता है जो मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों पर अवलंबित हो। ईर्षा और प्रेम, क्रोध और लोभ, भक्ति और विराग, दुख और लज्जा ये सभी हमारी मौलिक प्रवृत्तियां हैं। इन्हीं की छटा दिखाना साहित्य का परम उद्देश्य है। बिना उद्देश्य के तो कोई रचना हो ही नहीं सकती। जब साहित्य की रचना किसी सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक मत के प्रचार के लिये की जाती है, तो वह अपने ऊँचे पद से गिर जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन आज-कल परिस्थितियां इतनी तीव्र गति से बदल रही हैं, इतने नए नए विचार पैदा हो रहे हैं कि कदाचित् अब कोई लेखक साहित्य के आदर्श को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लेखक पर इन परिस्थितियों का असर न पड़े, वह उनसे आदोलित न हो। यही कारण है कि आजकल भारतवर्ष में ही नहीं, यूरप के बड़े बड़े विद्वान् भी अपनी रचना द्वारा किसी न किसी वाद का प्रचार कर रहे हैं। वे इसकी परवा नहीं करते कि इससे हमारी रचना जीवित रहेगी

या नही। अपने मत की पुष्टि करना ही उनका ध्येय है। इसके सिवाय उन्हें कोई इच्छा नही। मगर यह क्योंकर मान लिया जाय कि जो उपन्यास किसी विचार के प्रचार के लिये लिखा जाता है उसका महत्त्व क्षणिक होता है। ह्यूगो का 'ला मिज़रेबुल' टालस्टाय के अनेक ग्रंथ, डिकेन्स की कितनी ही रचनाएँ विचार-प्रधान होते हुए साहित्य की उच्च कोटि की है और अब तक उनका आकर्षण कम नही हुआ। आज भी शा, वेल्स आदि बड़े बडे लेखको के ग्रन्थ प्रचार ही के उद्देश्य से लिखे जा रहे है। हमारा ख़याल है कि कुशल साहित्यकार कोई विचार-प्रधान रचना भी इतनी सुन्दरता से करता है कि उसमे मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियो का संघर्ष निभता रहे। कला के लिए कला का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते है कि हम भाँतिभाँति के राजनैतिक और सामाजिक बधनो मे जकडे हुए है, जिधर निगाह उठती है, दुख और दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते है, विपत्ति का करुण-क्रदन सुनाई देता है, तो कैसे संभव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे। हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप से व्यक्त हो, उपन्यास की स्वाभाविकता मे उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पडने पाए, वरना उपन्यास नीरस हो जायगा।

डिकेंस इंगलैंड का बहुत प्रसिद्ध उपन्यासकार हो गुजरा है। 'पिकविक पेपर्स' उसकी एक अमर, हास्य-रस-प्रधान रचना है। "पिकविक" का नाम एक शिकरम गाडी के मुसाफिरो की ज़बान से डिकेंस के कान मे आया। बस, नाम के अनुरूप ही चरित्र, आकार, वेष सब की रचना हो गई। "साइलस मारिनर" भी अंग्रेजी का एक प्रसिद्ध उपन्यास है। जार्ज इलियट ने, जो इसकी लेखिका हैं, लिखा है कि अपने बचपन मे उन्होने एक फेरी लगाने वाले जुलाहे की पीठ पर कपड़े के थान लादे हुए कई बार देखा था। वह तस्वीर उनके हृदय-पट पर अंकित हो गई थी और समय पर इस उपन्यास के रूप मे प्रकट हुई।

"स्कारलेट लेटर" भी हथर्न की बहुत ही सुंदर, मर्मस्पर्शिनी रचना है। इस पुस्तक का बीजाङ्कुर उन्हें एक पुराने मुकदमे की मिसिल से मिला। भारतवर्ष मे अभी उपन्यासकारो के जीवन-चरित्र लिखे नही गए, इसलिए भारतीय उपन्यास-साहित्य से कोई उदाहरण देना कठिन है। 'रङ्गभूमि' का बीजाकुर हमे एक अंधे भिखारी से मिला, जो हमारे गाव मे रहता था। एक ज़रा सा इशारा, ज़रा सा बीज, लेखक के मस्तिष्क मे पहुँच कर इतना विशाल वृक्ष बन जाता है कि लोग उस पर आश्चर्य करने लगते है। "एम० ऐंडूज़हिम" रडयार्ड किपलिङ्ग की एक उत्कृष्ट काव्य-रचना है। किपलिंग साहब ने अपने एक नोट मे लिखा है कि एक दिन एक इंजीनियर साहब ने रात को अपनी जीवन-कथा सुनाई थी। वही उस काव्य का आधार थी। एक और प्रसिद्ध उपन्यासकार का कथन है कि उसे अपने उपन्यासो के चरित्र अपने पडोसियो मे मिले। वह घंटों अपनी खिडकी के सामने बैठे लोगों को आते जाते सूक्ष्म दृष्टि से देखा करते और उनकी बातो को ध्यान से सुना करते थे। "जेन आयर" भी अंग्रेजी उपन्यास के प्रेमियो ने अवश्य पढी होगी। दो लेखिकाओ में इस विषय पर बहस हो रही थी कि उपन्यास की नायिका रूपवती होनी चाहिए या नही। 'जेन आयर' की लेखिका ने कहा, मैं ऐसा उपन्यास लिखूंगी जिसकी नायिका रूपवती न होते हुए भी आकर्षक होगी। इसका फल था 'जेन आयर'।

बहुधा लेखको को पुस्तको से अपनी रचनाओ के लिए अंकुर मिल जाते हैं। हालकेन का नाम पाठको ने सुना है। आप की एक उत्तम रचना का अनुवाद हाल ही मे "अमरपुरी" के नाम से हुआ है। आप लिखते है कि मुझे बाइबिल से प्लाट मिलते हैं। "मेटरलिंक" बेलजियम के जगत्विख्यात नाटककार हैं। उन्हे बेलजियम का शेक्सपियर कहते है। उनका "मोनावोन" नामक ड्रामा ब्राउनिंग की एक कविता से प्रेरित हुआ था और "मेरी मैगडालेन" एक जर्मन ड्रामा से शेक्सपियर के नाटको का मूल स्थान खोज खोज कर कितने ही विद्वानें

ने "डाक्टर' की उपाधि प्राप्त कर ली है। कितने वर्तमान औपन्यासिको और नाटककारो ने शेक्सपियर से सहायता ली है, इसकी खोज करके भी कितने ही लोग "डाक्टर" बन सकते है। "तिलस्म होशरुबा" फारसी का एक बृहत् पोथा है, जिसके रचयिता अकबर के दरबार वाले फैजी कहे जाते है, हालाँकि हमे यह मानने मे संदेह है। इस पोथे का उर्दू मे भी अनुवाद हो गया है। कम से कम २०००० पृष्ठो की पुस्तक होगी। स्व० बाबू देवकीनन्दन खत्री ने चंद्रकान्ता और चन्द्रकान्ता-संतति का बीजांकुर "तिलश्म होशरुबा" से ही लिया होगा, ऐसा अनुमान होता है।

संसार-साहित्य मे कुछ ऐसी कथाएँ है जिन पर हजारो बरसो से लेखकगण आख्यायिकाएँ लिखते आए है और शायद हजारो वर्षों तक लिखते जायगे। हमारी पौराणिक कथाओं पर कितने नाटक और कितनी कथाएँ रची गई है, कौन नही जानता। यूरोप मे भी यूनान की पौराणिक गाथा कवि-कल्पना के लिए एक अशेष आधार है। 'दो भाइयो की कथा,' जिसका पता पहले मिश्र देश के तीन हजार वर्ष पुराने लेखो से मिला था, फ्रास से भारतवर्ष तक एक दर्जन से अधिक प्रसिद्ध भाषाओ के साहित्य मे समाविष्ट हो गई है। यहा तक कि बाइबिल मे उस कथा की एक घटना ज्यो की त्यो मिलती है। किन्तु यह समझना भूल होगी कि लेखकगण आलस्य या कल्पनाशक्ति के अभाव के कारण प्राचीन कथाओ का उपयोग करते हैं। बात यह है कि नए कथानक मे वह रस, वह आकर्षण नही होता जो पुराने कथानको मे पाया जाता है। हाँ, उनका कलेवर नवीन होना चाहिए। 'शकुंतला' पर यदि कोई उपन्यास लिखा जाय, तो वह कितना मर्मस्पर्शी होगा, यह बताने की जरूरत नही। रचनाशक्ति थोडी बहुत सभी प्राणियो मे रहती है। जो उसमे अभ्यस्त हो चुके है, उन्हे तो फिर झिझक नही रहती, कलम उठाया और लिखने लगे, लेकिन नए लेखको को पहले कुछ लिखते समय ऐसी झिझक होती है मानो वे दरिया मे कूदने जा रहे हो। बहुधा एक तुच्छ सी घटना उनके मस्तिष्क पर प्रेरक का काम कर जाती है। किसी का

नाम सुनकर, कोई स्वप्न देखकर, कोई चित्र देखकर उनकी कल्पना जाग उठती है। किसी व्यक्ति पर किस प्रेरणा का सबसे अधिक प्रभाव पडता है, यह उस व्यक्ति पर निर्भर है। किसी की कल्पना दृश्य विषयो से उभरती है, किसी की गंध से, किसी की श्रवण से, किसी को नए, सुरम्य स्थान की सैर से इस विषय मे यथेष्ट सहायता मिलती है। नदी के तट पर अकेले भ्रमण करने से बहुधा नई नई कल्पनाएँ जाग्रत होती हैं। ईश्वरदत्त शक्ति मुख्य वस्तु है। जब तक यह शक्ति न होगी उपदेश, शिक्षा, अभ्यास सभी निष्फल जायगा। मगर यह प्रगट कैसे हो कि किसमे यह शक्ति है, किसमे नही। कभी इसका सबूत मिलने मे बरसो गुजर जाते है और बहुत परिश्रम नष्ट हो जाता है। अमेरिका के एक पत्र-सपादक ने इसकी परीक्षा करने का एक नया ढंग निकाला है। दल के दल युवको मे से कौन रत्न है और कौन पाषाण? वह एक कागज के टुकडे पर कोई नाम लिख देता है और उम्मेदवार को वह टुकडा देकर उस नाम के संबन्ध मे ताबडतोड प्रश्न करना शुरू करता है—उसके बालो का रंग क्या है? उसके कपडे कैसे है? कहा रहती है? उसका बाप क्या काम करता है? जीवन मे उसकी मुख्य अभिलाषा क्या है? यदि युवक महोदय ने इन प्रश्नो के संतोष-जनक उत्तर न दिए, तो वह उन्हें अयोग्य समझ कर बिदा कर देता है। जिसकी कल्पना इतनी शिथिल हो, वह उसके विचार मे उपन्यास-लेखक नहीं बन सकता। इस परीक्षा-विभाग मे नवीनता तो अवश्य है, पर भ्रामकता की मात्रा अधिक है।

लेखकों के लिए एक नोटबुक का रहना बहुत आवश्यक है। यद्यपि इन पंक्तियों के लेखक ने कभी नोटबुक नहीं रक्खी, पर इसकी जरूरत को वह स्वीकार करता है। कोई नई चीज, कोई अनोखी सूरत, कोई सुरम्य दृश्य देखकर नोटबुक मे दर्ज कर लेने से बडा काम निकलता है। यूरोप मे लेखको के पास उस वक्त तक नोटबुक अवश्य रहती है जब तक उनका मस्तिष्क इस योग्य नही बनता कि हर एक प्रकार की

चीज़ों को अलग अलग खानों मे संगृहीत कर लें। बरसों के अभ्यास के बाद यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, इसमे संदेह नही, लेकिन आरंभ-काल मे तो नोटबुक का रखना परमावश्यक है। यदि लेखक चाहता है कि उसके दृश्य सजीव हों, उसके वर्णन स्वाभाविक हो, तो उसे अनिवार्यतः इससे काम लेना पडेगा। देखिए, एक उपन्यासकार के नोटबुक का नमूना—

अगस्त २१, १२ बजे दिन, एक नौका पर एक आदमी श्याम वर्ण 'सुफेद बाल' आँखे तिरछी पलके भारी, ओठ ऊपर को उठे हुए और मोटे, मूंछे ऐंठी हुई। सितम्बर १, समुद्र का दृश्य, बादल श्याम और स्वेत पानी मे सूर्य का प्रतिबिम्ब काला, हरा चमकीला, लहरे फेनदार, उनका ऊपरी भाग उजला। लहरो का शोर, लहरो के छींटे से झाग उडती हुई।

उन्ही महाशय से जब पूछा गया कि आप को कहानियो के प्लाट कहाँ मिलते हैं? तो आपने कहा—चारो तरफ। अगर लेखक अपनी आँखे खुली रक्खे, तो उसे हवा मे से भी कहानियाँ मिल सकती है। रेलगाडी मे, नौकाओं पर, समाचार-पत्रों मे, मनुष्यो के वार्तालाप मे, और हजारो जगहो से सुंदर कहानियाँ बनाई जा सकती हैं। कई सालो के अभ्यास के बाद देखभाल स्वाभाविक हो जाती है, निगाह आप ही आप अपने मतलब की बात छाट लेती है। दो साल हुआ, मैं एक मित्र के साथ सैर करने गया। बातो ही बात मे यह चरचा छिड गई कि यदि दो के सिवा संसार के और सब मनुष्य मार डाले जाय तो क्या हो? उस अंकुर से मैने कई सुन्दर कहानियाँ सोच निकाली।

इस विषय मे तो उपन्यास-कला के सभी विशारद सहमत हैं कि उपन्यासों के लिए पुस्तको से मसाला न लेकर जीवन ही से लेना चाहिए। वालटर बेसेंट अपनी "उपन्यास-कला" नामक पुस्तक मे लिखते है :—

"उपन्यासकार को अपनी सामग्री आले पर रक्खी हुई पुस्तकों से नही, उन मनुष्यों के जीवन से लेनी चाहिए जो उसे नित्य ही चारों तरफ मिलते रहते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि अधिकाश लोग अपनी आखों से काम नही लेते। कुछ लोगो को यह शंका भी होती है कि मनुष्यों मे जितने अच्छे नमूने थे वे तो पूर्वकालीन लेखको ने लिख डाले, अब हमारे लिए क्या बाकी रहा। यह सत्य है, लेकिन अगर पहले किसी ने बूढ़े कंजूस, उडाऊ युवक, जुआरी, शराबी, रगीन युवती आदि का चित्रण किया है, तो क्या अब उसी वर्ग के दूसरे चरित्र नही मिल सकते? पुस्तकों मे नए चरित्र न मिले, पर जीवन मे नवीनता का अभाव कभी नही रहा।"

हेनरी जेम्स ने इस विषय मे जो विचार प्रकट किए है, वह भी देखिए—

अगर किसी लेखक की बुद्धि कल्पना-कुशल है तो वह सूक्ष्मतम भावों से जीवन को व्यक्त कर देती है, वह वायु के स्पदन को भी जीवन प्रदान कर सकती है। लेकिन कल्पना के लिए कुछ आधार अवश्य चाहिए। जिस तरुणी लेखिका ने कभी सैनिक छावनियाँ नही देखी उससे यह कहने मे कुछ भी अनौचित्य नही है कि आप सैनिक जीवन मे हाथ न डाले। मै एक अंग्रेज उपन्यासकार को जानता हूँ जिसने अपनी एक कहानी मे फ्रास के प्रोटेस्टेट युवको के जीवन का अच्छा चित्र खीचा था। उस पर साहित्यिक संसार मे बडी चर्चा रही। उससे लोगो ने पूछा, आपको इस समाज के निरीक्षण करने का ऐसा अवसर कहा मिला (फ्रांस रोमन कैथोलिक देश है और प्रोटेस्टेंट वहा साधारणतः नही दिखाई पडते) मालूम हुआ कि उसने एक बार, केवल एक बार, कई प्रोटेस्टेट युवकों को बैठे और बातें करते देखा था। बस, एक बार का देखना उसके लिए पारस हो गया। उसे वह आधार मिल गया जिस पर कल्पना अपना विशाल भवन निर्माण करती है। उसमे

वह ईश्वरदत्त शक्ति मौजूद थी, जो एक इञ्च से एक योजन की खबर लाती है और जो शिल्पी के लिए बडे महत्व की वस्तु है।

मि० जी० के० चेस्टरटन जासूसी कहानियाँ लिखने मे बडे प्रवीण है। आपने ऐसी कहानियाँ लिखने का जो नियम बताया है वह बहुत शिक्षाप्रद है। हम उसका आशय लिखते है।

कहानी मे जो रहस्य हो उसे कई भागो मे बाँटना चाहिए। पहिले छोटी सी बात खुले, फिर उससे कुछ बडी और अंत मे मुख्य रहस्य खुल जाय। लेकिन हर एक भाग मे कुछ न कुछ रहस्योद्घाटन अवश्य होना चाहिए, जिसमे पाठक की इच्छा सब कुछ जाननें के लिए बलवती होती चली जाय। इस प्रकार की कहानियो मे इस बात का ध्यान रखना परमावश्यक है कि कहानी के अंत मे रहस्य खोलने के लिए कोई नया चरित्र न लाया जाय। जासूसी कहानियों मे यही सब से बडा दोष है। रहस्य के खुलने मे जभी मजा है कि वही चरित्र अपराधी सिद्ध हो जिस पर कोई भूलकर भी न सन्देह कर सकता था।

उपन्यास-कला मे यह बात भी बडे महत्व की है कि लेखक क्या लिखे और क्या छोड दे। पाठक भी कल्पनाशील होता है। इसलिए वह ऐसी बाते पढना पसंद नही करता जिनकी वह आसानी से कल्पना कर सकता है। इसलिए वह यह नही चाहता कि लेखक सब कुछ खुद कह डाले और पाठक की कल्पना के लिए कुछ भी बाकी न छोडे। वह कहानी का खाका मात्र चाहता है, रंग वह अपनी अभिरुचि के अनुसार भर लेता है। कुशल लेखक वही है जो यह अनुमान कर ले कि कौन सी बात पाठक स्वयं सोच लेगा और कौन सी बात उसे लिखकर स्पष्ट कर देनी चाहिए। कहानी या उपन्यास मे पाठक की कल्पना के लिए जितनी ही अधिक सामग्री हो उतनी ही वह कहानी रोचक होगी। यदि लेखक आवश्यकता से कम बतलाता है तो कहानी आशयहीन हो जाती है, ज्यादा बतलाता है तो कहानी मे मजा नही

आता। किसी चरित्र की रूप रेखा या किसी दृश्य को चित्रित करते समय हुलिया-नवीसी करने की जरूरत नहीं। दो-चार वाक्यो मे मुख्य मुख्य बाते कह देनी चाहिएं। किसी दृश्य को तुरत देखकर उसका वर्णन करने से बहुत सी अनावश्यक बातों के आजाने की सम्भावना रहती है। कुछ दिनों के बाद अनावश्यक बाते आप ही आप मस्तिष्क से निकल जाती है, केवल मुख्य बाते स्मृति पर अंकित रह जाती है। तब उस दृश्य के वर्णन करने मे अनावश्यक बाते न रहेंगी। आवश्यक और अनावश्यक कथन का एक उदाहरण देकर हम अपना आशय और स्पष्ट करना चाहते है।

दो मित्र संध्या समय मिलते है। सुविधा के लिए हम उन्हें राम और श्याम कहेंगे।

राम—गुडईवनिंग श्याम, कहो आनन्द तो है?

श्याम—हलो राम! तुम आज किधर भूल पडे?

राम—कहो क्या रङ्ग ढङ्ग है? तुम तो भले ईद के चाँद हो गए।

श्याम—मै तो ईद का चाँद न था, हाँ, आप गूलर के फूल भले ही हो गए।

राम—चलते हो संगीतालय की तरफ?

श्याम—हाँ चलो।

लेखक यदि ऐसे बच्चों के लिए कहानी नही लिख रहा है जिन्हें अभिवादन की मोटी-मोटी बाते बताना ही उसका ध्येय है तो वह केवल इतना ही लिख देगा—

"अभिवादन के पश्चात् दोनों मित्रों ने संगीतालय की राह ली।"

रंगमंच

लेखक—श्री० रामकुमार वर्मा, एम० ए०, प्रयाग-विश्वविद्यालय

जिस प्रकार शिशु अपने दोनो हाथ फैलाकर चन्द्र-खिलौना माँगता है, असम्भव घटनाओं के अस्तित्व के लिये हठ करता है, उसी प्रकार नाट्यशाला मे बैठी हुई जनता मञ्च से एक असम्भव सुख लूटना चाहती है, पात्रो से अनुचित और कठिन अभिनय मागती है। इसमे संदेह नही कि पात्रो का अभिनय जनता की रुचि के अनुसार होना चाहिये, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि जनता की गिरी हुई आकाक्षाओं और साधारण रुचि के अनुसार ही पात्रो का अभिनय हो। पात्रो मे कला की उत्कृष्टता हो सकती है, पर यह नही कहा जा सकता कि जनता उस उत्कृष्ट कला के रूप की उत्कृष्ट रूप से प्रशंसा अथवा सराहना कर सकेगी अथवा नही। जिस समय विविध विचारो मे डूबी हुई, कला के रूप की विभिन्न कल्पनाएँ करती हुई, जनता नाट्यशाला मे प्रवेश करती है, उस समय सञ्चालको को इस बात का डर सदैव ही बना रहता है कि उनका नाटक दर्शकों द्वारा प्रशसित होगा अथवा नही। उस समय वे जनता की रुचि को पहचानना चाहते हैं। यदि उनकी कला दर्शकों को पसन्द आ गई तब तो उनकी सोने की थैली का वजन बढ़ जाता है, अन्यथा धन-व्यय करने पर भी उनके सिर गालियो का बोझ पडता है। ऐसी स्थिति मे नाटककार और सञ्चालक दर्शको की रुचि के पीछे ऐसे दौडते है जैसे एक रङ्गीन तितली के पीछे उत्सुक और भोले बालक। यदि उन्हे यह ज्ञात हो जाय कि जनता के हृदय की माँग क्या है तो नाट्यशालाओं की संख्या अमावस की रात के तारो की भाँति बढ़ जाय। लोग चाहते क्या है, यही समझना तो कठिन प्रश्न है। रस्किन

ने एक स्थान पर लिखा है कि जनता एक बच्चे के समान है। जिस प्रकार एक शिशु अपने विचारों के इन्द्रधनुष मे विविध भावनाओ का रङ्ग भरा करता है और कुछ क्षणो के बाद उसे मिटा देता है, उसी प्रकार जनता किसी समय एक प्रकार के विचारो मे पूर्णरूप से संलग्न होकर उन्ही विचारों को इन्द्रधनुष के समान मिटा देती है। जो चीज़ एक समय उसे प्रिय थी वही दूसरे समय उसे अप्रिय हो जाती है। ऐसी स्थिति मे नाटक के सञ्चालक बेचारे क्या करें। जो नाट्यसामग्री एक बार दर्शकों के हृदय में विप्लव मचा चुकी थी वही सामग्री कुछ दिनो के बाद धूल मे फेंक दी जाती है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—प्रथम तो शिशु के समान जनता की अपरिमार्जित बुद्धि और द्वितीय जनता की धार्मिक प्रवृत्ति।

भारतीय नाटक का जन्म धर्म की गोद मे हुआ था। उसी के सहारे नाटक मे जीवन की शक्तियाँ आई और उसी ने उसको अस्तित्व ससार में रहने दिया। ग्रीस के सुखान्त नाटक जिस प्रकार डायोनीसस की पूजा के रूप से प्रारम्भ हुए, उसी प्रकार भारतीय नाटक का भी धर्म से बडा गहरा सम्बन्ध है। भारतीय नाटक और मञ्च की उत्पत्ति के विषय मे ई० पी० हारविज रचित "दी इण्डियन थियेटर" मे लिखा है—"एक बार सभी देवता मिलकर ब्रह्मा के पास गये और उन्होने उनसे अपने मनोरञ्जन की सामग्री माँगी। ब्रह्मा ने ऋक् से नृत्य, साम से गान, यजुर् से अभिनय और अथर्व से भाव लेकर एक नाट्यवेद की रचना की। पहला रङ्गमञ्च बनाने के लिये विश्वकर्मा बुलाया गया और उसने इन्द्रभवन में एक विशाल मञ्च का निर्माण किया। उस मञ्च के ऊपर प्रथम बार इन्द्रध्वज त्यौहार के अवसर पर समवकार के रूप मे अमृत-मन्थन का अभिनय किया गया, उसके बाद डिम के रूप मे त्रिपुर-दाह का। नाटक मे अपने पुत्र और शिष्यों के साथ भरतमुनि ने तथा गन्धर्व और अप्सराओ ने अभिनय किया था। राजा नहुष ने पहली बार पृथ्वी पर रङ्गमञ्च की स्थापना की थी और अभिनय कराने के लिये उन्होंने

स्वर्गीय देवाङ्गनाओं, अप्सराओं और गन्धर्वों को पृथ्वी पर आने के लिये बाध्य किया था। यह बात कहाँ तक सत्य अथवा असत्य है, यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु हमारे पूर्व-ग्रन्थो के इस वर्णन से यही तीन बाते निष्कर्ष के रूप मे मिलती है:—

(१) नाटक के तत्व हमारे वेदों मे वर्तमान हैं।

(२) धार्मिक अवसर पर ही हमारे यहाँ नाटको के अभिनय हुआ करते थे।

(३) स्त्री-पुरुष समान रूप से भाग लिया करते थे; क्योकि उस समय नाटक एक धार्मिक संस्था के रूप मे माने जाते थे।

नाटक की इस परम्परागत कथा ने ही भारतीयो के हृदय मे धर्म और नाटक का ऐसा एकीकरण कर दिया कि सारी जनता के हृदय में नाटकों मे धर्मतत्व देखने की उत्कण्ठा-सी उत्पन्न हो गई। यही कारण है कि पुराने नाटकों मे धर्म का तत्व व्यापक रूप से पाया जाता है। जब भारतीयों के हृदय एक बार धर्ममय नाटको मे मिल गये, तब उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे एक बार हो धर्म के वातावरण से निकलकर अन्य प्रकार के नाटकों की ओर अपनी ऑख उठा सकेंगे। भारतीय जनता की यही रुचि जो इस समय धर्म और वर्तमान-कालीन सभ्यता की सर्वतोन्मुखी प्रवृत्ति के बीच मे उलझी है—किसे ग्रहण करें और किसे त्यागें—वर्तमान मञ्च-सञ्चालको की असुविधा का कारण बन रही है।

जनता की धार्मिक प्रवृत्ति पर प्रकाश डालने के पश्चात् उसकी अपरिमार्जित बुद्धि पर विचार कीजिये। हिन्दी मे अच्छे नाटकों की संख्या प्रातःकालीन तारो की भॉति बहुत ही कम है। ऐसी स्थिति मे जब कि जनता को यह अवसर ही नही दिया जाता कि वह अच्छे-अच्छे नाटको को देखकर अपनी प्रवृत्तियों और भावनाओं का मार्जन कर सके, तब उससे परिमार्जित रुचि की आशा करना वैसा ही है जैसा किसी भूखो

भिखारिणी से विविध व्यञ्जनों की स्वादोत्कृष्टता का पता पूछना। जब दर्शक-मण्डली नाटक के वास्तविक तत्वो को जानती ही नही तब, ऐसी स्थिति मे, वह किस प्रकार अपनी रुचि को सुधार सकती है?

अभी उस दिन प्रयाग के विश्वम्भर-पैलेस मे न्यू अलफ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी आई थी। नाटक था 'गणेश-जन्म। मै भी एक आलोचक की हैसियत से वहाँ गया था। आदि से अन्त तक देख लेने पर मुझे ज्ञात हुआ कि सञ्चालक अथवा नाटककार ने नाटक के आदर्शों को पाने की चेष्टा तो नही की, वरन् जनता की अपरिमार्जित रुचि मे गुदगुदी पैदा करने की कोशिश की है। दृश्यों की जगमगाहट और पर्दों की "फट-फटाहट" ही नाट्यशास्त्र का अंग बन गई थी। जनता के हृदय में कौतूहल-वर्द्धक भावनाओ को जागरित करने की विधियाँ जुटाई गई थी। सती का सीता के रूप मे अकस्मात् परिवर्तित हो जाना, शिव के काष्ठनिर्मित नन्दी का अपने पैरो पर खड़े हो जाना, मञ्च पर दक्ष-प्रजापति का सिर काटा जाना, कामदेव का पुष्पबाण से उजडी हुई प्रकृति मे पीले और गुलाबी फूलो का अकस्मात् प्रादुर्भाव कर देना, मञ्च पर गणेश का सिर काटकर उनके शरीर मे हाथी का सिर जोड़ देना आदि कितनी ही घटनाएँ दर्शको के हृदय मे आश्चर्य और कौतूहल उत्पन्न करनेवाली थी। कथानक का पता नही था कि मञ्च किसी जादूगर की दूकान है जहाँ क्षण-क्षण मे आश्चर्यजनक परिवर्तन होता रहता है। कथावस्तु रास्ता भूलकर न जाने कहाँ पिछड गई थी, पर कौतूहलवर्द्धक घटनाएँ एक-एक कर मञ्च पर आती जाती थी, मानों नाटक के सञ्चालक ने अपना 'कमाल' दिखलाने के लिये ही प्रयाग की सारी जनता को आमन्त्रित किया हो! बीच मे सिनेमा का प्रयोग भी किया था और उसके अन्तिम दृश्य का जोड मञ्च के अभिनय से दिखलाया गया था। दर्शको के हाथ रुक न सके। मुख के शब्दों के साथ-साथ हाथों ने भी तालियो के शब्द से सराहना की। सारा पैलेस करतल-ध्वनि से गूँज गया। "स्प्लेन्डिड", "सुपर्ब" "ऐक्सीलेन्ट" और "ख़ूब-ख़ूब" के

शब्दों के शोर मे तालियो का शोर मिल गया। नाटक के समाप्त होने पर मैंने दर्शको से, जो पैलेस से हर्ष, प्रशंसा और उत्साह की मुद्रा से निकल रहे थे, पूछा—नाटक कैसा हुआ? सबो ने प्रशंसा से सिर हिलाकर कहा—"कमाल है!" यह थी जनता की रुचि!

डब्लू० ए० डारलिङ्गटन ने अङ्गरेज़ी मे एक किताब लिखी है। उसका नाम है—"लिटरेचर इन दि थियेटर" उसमे उन्होंने लिखा है कि नाटक के तीन तत्व हैं—कथा-वस्तु, शैली और चरित्र। उन नाटको मे, जो जनता मे आदृत है, कथा-वस्तु का तो अधिक विस्तार रहता है, पर दो पैसे के मूल्य का चरित्र, और शैली का प्रायः अभाव रहता है। जो नाटक साहित्यिक नाटकों की श्रेणी मे आता है और जो अभिनेताओ द्वारा 'रद्दी' कहा जाता है, उसमे शैली की उत्कृष्ट मात्रा रहती है, कुछ चरित्र-चित्रण, और कथानक प्रायः शून्य-सा रहता है। आदर्श नाटको मे ये बाते विस्तार से पाई जाती है। नाट्यशास्त्र का जो विद्यार्थी है, यदि वह मन लगाकर नाटको का रङ्गमञ्च पर अध्ययन करे और यदि वह नाटको के बाह्य और अन्तरतम रूप पर विचार करे तो कुछ ही दिनो मे उसे कथावस्तु मे आनन्द नही आवेगा। नाटको को अधिक संख्या मे देखकर उसे कथानक की ओर से वैसी ही अरुचि हो जायगी जैसी कि एक बहुत मिठाई खानेवाले को मिठाई खाने के पश्चात् मिठास से हो जाती है। इसका एक कारण है। अनेक नाटको का कथानक आपस मे मिलता जुलता सा है। कहते है, संसार मे केवल सात कथानको का ही अस्तित्व है। भिन्न-भिन्न नाटक, कविता, उपन्यास के कथानक उन्ही सात कथानकों के रूप मे यत्र-तत्र परिवर्तित कर बनाये जाते है। ऐसी स्थिति मे बहुत सम्भव है—सम्भव क्या, सत्य ही है कि अनेक नाटको का कथानक एक-दूसरे से बहुत मिलता जुलता हो। इसी सादृश्य के कारण नाट्यशास्त्र के विद्यार्थी का ध्यान स्वभावत. पुनरुक्तिमय कथावस्तु की ओर से हटकर चरित्र चित्रण की विभिन्नताओ अथवा शैली की रीतियो की ओर आकृष्ट होता है। यहाँ तक कि यदि नाटक मे

विशेष कथा-वस्तु न भी हो तो उसे इस बात की चिन्ता न होगी। वह तो नाटक की, अधिक रोचक और विविध विचारो से युक्त, शैली की ओर ध्यान देगा। इसीलिये जनता, जिसे नाटक के कथा-सादृश्य का कम ज्ञान है, शैली और चरित्र की अपेक्षा कथावस्तु की ओर अधिक आकर्षित होगी। दूसरी ओर नाटको का मनन करनेवाला विद्यार्थी, जिसे कथा-सादृश्य का ज्ञान है, कथावस्तु की ओर ध्यान ही न देगा। इसलिये जो नाटककार जनता की प्रशंसा चाहते है वे चरित्र-चित्रण और शैली की ओर कम ध्यान देकर कथावस्तु की ओर ही अधिक ध्यान दें। उनके नाटको मे उपन्यासों के समान कहानियाँ हो। दर्शको का ध्यान आकर्षित करने के लिये उनके पास काफ़ी "मसाला" हो, तभी वे जनता की प्रशंसा के पात्र बन सकते है, अन्यथा नही।

डारलिङ्गटन के इस मत से मै पूर्णरूप से सहमत इसलिये नहीं हूँ कि वह पाश्चात्य जनता अथवा दर्शको की रुचि देख रहा है और मैं पूर्वीय जनता की रुचि पर ध्यान दे रहा हूँ। मैं यह मानता हूँ कि दर्शको को, जो समान रूप से नाटक के तत्वो को नही जानते, चरित्रचित्रण और शैली पसन्द नही, किन्तु केवल कथावस्तु या कहानी ही भारतीय दर्शक-वृन्दो का मनोरञ्जन नही कर सकती। पाठको की बात दूसरी है। वे एक कोने मे बैठकर अपने ही ध्यान के संसार मे पात्रों की कल्पना करके कथावस्तु का आनन्द लूट सकते है पर दर्शकों के साथ बात ही दूसरी हो जाती है। रुचि परिष्कृत न होने के कारण वे कुछ तमाशा देखना चाहते है। अतएव कहानी के साथ ही यदि आश्चर्य-जनक घटनाओ का भी समावेश हो तो दर्शकों का कौतूहल और प्रसन्नता दुगुनी बढ़ जायगी और उनके मुख से 'वाह-वाह' की ध्वनि अवश्य निकल आवेगी। इसलिये कौतूहल-वर्द्धक घटनाओं का अस्तित्व कहानी के साथ-साथ ज़रूरी है। तभी नाटककार को प्रशंसा का पुरस्कार मिल सकता है। केवल कहानी द्वारा ही दर्शक-हृदय नही समझाया या बहलाया जा सकता।

रंगमञ्च की जनता के विषय को छोडकर अब रंगमञ्च की विवेचना करना आवश्यक है। नाटको का अस्तित्व मैं रङ्गमञ्च के सम्बन्ध से ही सार्थक समझता हूँ। पूर्वकाल मे भी, जब नाटक शैशवावस्था मे था, नाच और बार्तालाप नाटक के अनिवार्य सहायक थे। सत्रहवी शताब्दी मे इङ्गलैण्ड मे नाटकों की सूचना पात्रगण नाटक के वस्त्र पहन कर घूम-घूम कर दिया करते थे। नाटक और अभिनय ये दो ऐसी वस्तुएँ है जो एक दूसरे से अलग नही की जा सकती। मेरे विचार से किसी भी भाँति नाटको की उत्कृष्टता का निर्णय बिना मञ्च के सम्पर्क के नही हो सकता। यदि नाटक प्राण है तो मञ्च उसका शरीर। जो नाटक मञ्च पर खेले जाने पर अपना बहुत-सा सौन्दर्य खो देते हैं वे चाहे साहित्य की दृष्टि से कितने ही अच्छे क्यों न लिखे गये हो, पर अच्छे नाटकों की श्रेणी मे रखने के सर्वथा अनुपयुक्त है। रङ्गशाला मे नाटक का महत्व मञ्च पर खेले जाने पर है, साहित्यिक ख्याति से नहीं। वहाँ नाटक प्रथमतः अभिनय करने की वस्तु है, फिर साहित्य की उज्ज्वल रत्न-राशि। यह एकान्त सत्य है, पर इसका रूप रङ्गशाला के महारथियो ने बहुत विकृत कर दिया है। वे समझते हैं कि रङ्गमञ्च का अभिनय एक बात है और साहित्य दूसरी बात। नाट्यमञ्च पर अभिनय होनेवाली चीज़ साहित्य हो ही नही सकती। बात यह है कि नाटक वस्तुतः कथोपकथन मे ही लिखे जाते है और इसलिये साधारण बोलचाल की ही भाषा उनमे प्रयुक्त होती है। साधारण बोलचाल की भाषा, जो साधारण जनता मे प्रचलित है, साहित्य का स्वरूप कभी ग्रहण नही कर सकती। उसकी बोलचाल का अविकल संग्रह साहित्य नही कहा जा सकता। इसके विपरीत जब नाटक के पात्र साहित्यिक भाषा का प्रयोग करने लगते हैं तो वे जीवन की साधारण भाषा से बहुत दूर पड जाते हैं और उनके शब्द और वाक्य उपहासास्पद और अ-नाटकीय हो जाते हैं। अतएव यह निश्चय है कि जो वस्तु मञ्च पर कही जाती है वह साहित्य नही है और जो साहित्य मञ्च पर लाया जाता है वह

नाटकीय नही है। अतः यह स्पष्ट है कि नाट्यवस्तु और साहित्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। वे कहते हैं कि नाटक बोलने और अभिनय करने की वस्तु है और साहित्य पढ़ने तथा मनन करने की। कला के ये दो रूप एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत हैं।

लगभग चौदह वर्ष हुए, मिस्टर ई० सी० मान्टेग्यू ने इसकी बड़ी खोज की थी। अन्त मे उनके कथन का तात्पर्य यही था कि नाटक जितने ही अधिक साहित्यिक होगे उतने ही अधिक वे रङ्गमञ्च के अयोग्य और जितने ही अधिक वे रङ्गमञ्च के योग्य उतने ही अधिक वे अ-साहित्यिक होंगे। यही सिद्धान्त अमेरिका के एक प्रसिद्ध अभिनेता मिस्टर जेम्स के० हैकेट ने प्रदर्शित किया है। उन्होने मिस्टर डारलिंगटन को एक पत्र मे लिखा है—

" अभिनीत होनेवाले (असाहित्यिक) और अभिनीत न होने वाले (साहित्यिक) नाटक के विषय मे जो विचार है वे एकान्त सत्य हैं और अनुभवी मनुष्य उसमे शङ्का न करेगा। इसके बाद उन्होंने अपने कालेज के दिनों की घटना का जिक्र किया, जब वे वक्तृता का पदक लेने की कोशिश कर रहे थे। वक्तृता देनेवालों के लिये यह आवश्यक था कि वे प्रथम वक्तृता लिखकर अँग्रेज़ी विभाग मे उसकी एक प्रति दे दें। कुछ सप्ताह के बाद मुझे प्रोफेसर साहब ने बुलाया और भर्त्सना-पूर्ण शब्दों में कहा—'मिस्टर हैकेट, मुझे तुमसे यह आशा नहीं थी। तुमने तो ऐसा ख़राब लिखा है कि उसे दुबारा पढ़ने की तबियत ही नही होती। यह फेंक देने लायक चीज़ है। यदि तुम्हारा निर्णायक मैं होता तो तुम्हे शून्य देता।'

मैंने उत्तर दिया—"प्रोफ़ेसर साहब, यह वक्तृता कहने या सुनने की वस्तु है, सोचने-समझने या अध्ययन करने की सामग्री नहीं। वक्तृता और साहित्य ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय हैं। एक के द्वारा हम श्रवण-शक्ति को उत्तेजित करते है, दूसरे से मनन और अध्ययन-शक्ति की।"

इसी प्रकार नाटक और साहित्य मे अन्तर है। नाटक खेलने और बोलने की वस्तु है, साहित्य मनन करने की। न तो नाटक साहित्य हो सकता है और न साहित्य नाटक हो। नाटककार यही तो भूल करते है कि वे नाटक को प्रकाशित करा के साहित्य के समान पढ़ने और अध्ययन करने की वस्तु बना देते है।

नाटक को साहित्य से भिन्न स्थान देने के लिये मचवालो का दूसरा विरोध यह है कि नाटक का कोई अवतरण साहित्यिक दृष्टि से चाहे कितना ही सुन्दर और मनोहर क्यो न हो, पर मञ्च के अनुसार परीक्षा लेने पर यह ज्ञात हो जायगा कि उसमे नाटकीय तत्त्व बिलकुल नही है। उन अवतरणों मे कविता का ध्यान अधिक रखा जाता है, नाटक का नही। इसमे सन्देह नही कि अमुक अवतरण काव्य की दृष्टि से बहुत उत्कृष्ट है, किन्तु वह नाटक के कार्य-व्यापार को आगे बढाने में कितनी सहायता देता है! ऐसे अवतरण केवल साहित्य के लिये मणि है, पर मञ्च के लिये निरर्थक कॉच के टुकड़े। इसीलिये साहित्यिक नाटक मञ्च से बहुत दूर जा गिरते है।

प्रत्येक मञ्च का कार्य-कर्ता इस बात से सहमत है कि नाटक में सौन्दर्य्य और सजावट रहना अनिवार्य्य है। वह सौन्दर्य्य या तो बाह्य हो या आन्तरिक। भॉति-भॉति के रंग-बिरंगे कपड़े, तरह-तरह के दृश्य-मय पर्दे, प्रकाश आदि सभी बाह्य सौन्दर्य की वस्तुएँ है। इनका रहना वर्तमान रंगमञ्च मे अनिवार्य्य-सा है। क्या मञ्च-महाशय उत्तर दे सकते है कि अनेक प्रकार के वस्त्राभूषण, परदे और प्रकाश नाटकीय कथा के कौन से भाग है? यदि वे नाटकीय कथा के भाग नही है, अथवा नाटकीय कार्य-व्यापार को आगे नही बढ़ाते तो नाटक मे उनका अस्तित्व क्यों है? मैं इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दे सकता हूँ कि उपर्युक्त वस्तुएँ यद्यपि नाटकीय कथा-वस्तु मे कोई स्थान नहीं रखती, तथापि वे दो कार्य करती हैं, जिनसे उनका मञ्च पर रहना सार्थक और आवश्यकीय हो

जाता है। प्रथम तो वे दर्शकों की सौन्दर्योपासक भावना की तृप्ति करती हैं और दूसरे पर्दे की ओट मे रहने वाले कथानक पर दर्शको की कल्पनाशक्ति को दौड़ा कर तत्कालीन दृश्य को अप्रत्यक्ष रूप से दिखाती हैं। दर्शक-गण बिना बाह्य सौन्दर्य्य के नाटक के रूप को उसी प्रकार अरुचि से देखेगे जिस प्रकार मलेरिया का रोगी कड़वी कुनैन को देखता है। ठीक बाह्य सौन्दर्य्य की भाँति सुन्दर साहित्यिक अवतरण नाटक का आन्तरिक सौंदर्य्य है। साहित्यिक अवतरण भी जनता की सौंदर्य्योपासक भावना की तृप्ति करते है और साथ साथ कथानक के वातावरण का निर्माण भी।

साहित्यिक नाटककारो का कथन है कि नाटककार को दर्शकों से क्या मतलब? वह मञ्च के चौखटे मे अपने नाटक का चित्र क्यो कस दे? उसे तो कला-रूप से नाटक को रचना और उसी की उत्कृष्टता से काम है। दर्शको और मञ्च का विषय तो मञ्च-सञ्चालक का है। सच्चे कलाकार से और दर्शको से क्या सम्बन्ध? उस नाटककार को, जो सच्ची कला के रूप की अवतारणा करता है, इन साधारण झंझटो से क्या सरोकार? उसके उत्कृष्ट आदर्श के सामने दर्शक-वृन्दो और मञ्च का मामला रखना उसे स्वर्ग से खीचकर नरक मे गिराना है! आत्म-प्रदर्शन के लिए ही उसकी कला है। वह तो "स्वान्तःसुखाय" लिखता है। उसे क्या पडी है जो वह दर्शको को—चाहे वे अच्छे हो, या बुरे हों—रिझाने के लिये बैठे? इस प्रश्न का उत्तर विलियम आर्चर ने अपनी प्ले-मेकिंग (Play Making) पुस्तक मे बडी अच्छी तरह से दिया है। वे लिखते हैं, जो कलाकार इसी तरह सोचना पसन्द करते है उनसे मुझे कुछ नही कहना है। उन्हे पूरा अधिकार है कि वे चाहे जिस प्रकार अपने नाटको में (जो शायद ही नाटक कहे जा सकते हैं!) अध्ययन या अभिनय रखें, अपना आत्म-प्रदर्शन करें। किन्तु जो नाटककार वास्तव मे आत्म-प्रदर्शन करना चाहता है उसे मञ्च की आवश्यक सहायता लेनी ही पड़ेगी। एक चित्रकार चाहे "स्वान्तःसुखाय" सुन्दर चित्र खीचे, मूर्ति-

कार मूर्ति बनाये, गायनाचार्य गीत गाये, किन्तु नाटककार बिना मञ्च के सहयोग के आत्म-प्रदर्शन कर ही नही सकता। बिना मञ्च के अस्तित्व के नाटक के कुछ मानी नही होते। वह जीवन का ऐसा प्रदर्शन है जो मञ्च के वातावरण मे ही हो सकता है, अन्य स्थान पर नही। इसीलिए तो उपन्यास और नाटक मे बड़ी भिन्नता है। एक का दिग्दर्शन हृदय पर होता है, दूसरे का मञ्च पर।

अतएव अब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि रङ्गमञ्च और साहित्य से युद्ध नहीं, वरन् शुद्ध सन्धि है। हमारे हिन्दी नाटककारो को मञ्च की आवश्यकताओं को ध्यान मे रखकर ही नाटक लिखना चाहिए। मञ्च की अवहेलना कर निरे साहित्यिक नाटको से हिन्दी का नाट्यक्षेत्र गौरवान्वित नही हो सकता।

वर्तमान हिन्दी-नाटको का समूह दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। पहले प्रकार के वे नाटक है जिनमे केवल रङ्गमञ्च का ध्यान रक्खा जाता है। उनमे दर्शको के कौतूहल-वर्द्धन की सामग्री रहती है। उनमे वास्तविक जीवन का चित्रण नही के बराबर रहता है और साहित्य के अस्तित्व का तो पता भी नही चलता।

दूसरे प्रकार के वे नाटक है जिनमे केवल साहित्य की लड़ियाँ सजाई जाती है। ऐसे नाटको की रचना इस प्रकार की जाती है, मानों उसके सभी दर्शक दार्शनिक अथवा कवि हैं। यद्यपि उसमें जीवन का चित्र, मानवीय भावनाओ का स्पष्टीकरण एवं मनोविज्ञान की स्पष्ट मूर्ति रहती है; पर उनमे मञ्च की साधारण से साधारण सुविधा की ओर ज़रा भी ध्यान नही रक्खा जाता। मञ्च की अवहेलना करने पर उच्च कोटि का साहित्यिक नाटक भी वास्तव में आदर्श नाटक नही कहा जा सकता।

हमें हिन्दी मे ऐसे नाटकों की सृष्टि करनी है जो वास्तव में जीवन की प्रतिकृति होते हुए भी रङ्गमञ्च के सुविधानुसार पूरे उतर आयें।

उनमे साहित्य की व्यञ्जना भी यथेष्ट हो और रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं की सामग्री भी पूर्णरीति से हो। जिस समय हिन्दी मे ऐसे नाटको की सृष्टि होगी उस समय हमारा हिन्दी नाट्यशास्त्र अन्य उन्नत भाषाओ के नाट्य-शास्त्र से समानता कर सकेगा।

नाटको के अभिनय का समय अधिक से अधिक दो-तीन घंटो तक ही परिमित रहना चाहिए। चीन के नाटकों की बात छोड दीजिये, जहाँ एक नाटक में सोलह अङ्क होते हैं और प्रत्येक अंक एक घंटे मे समाप्त होता है। पर हमें तो तीन घंटे से अधिक समय किसी अभिनय को देना ही नही चाहिये। हम एक स्थिति मे एक बार सुविधानुसार तीन घंटे से अधिक बैठे भी नही रह सकते और न तीन घटे से अधिक एक ही वस्तु को, अपना ध्यान समेटे हुए, देख ही सकते है। ऐसी स्थिति मे हमे अधिक समय (जिससे शरीर और मन को असुविधा हो) मनोरञ्जन मे नही देना चाहिये। यदि कोई नाटककार यह कहे कि मैं दो या तीन घंटे के भीतर अपने हृदय की सारी भावनाएं दर्शको के सामने नही रख सकता, तो वह नाटककार समर्थ कलाकार नही है। विलियम आर्चर का कहना है कि जो नाटककार दर्शको अथवा मञ्च की अवहेलना करता है वह केवल अपना सम्मान और लाभ ही नही खोता, वरन् अपनी रचना के कलारूप को भी खो देता है। हिन्दी मे ऐसे कई नाटक है जिनकी पृष्ठ-संख्या दो सौ के लगभग या दो सौ से ऊपर है। ऐसे नाटक तीन घंटे मे नही खेले जा सकते। उन्हें तीन घंटे मे लाने के लिये कतर ब्योत की ज़रूरत पडेगी। ऐसी स्थिति मे यह सम्भव है कि नाटक का साहित्यिक सौन्दर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाय। इसलिये इस 'कतर-ब्योत' से बचने के लिए पहले ही से ऐसा नाटक क्यो न लिखा जाय, जिसमे नाटककार के मुख्य और सुन्दर भावों का प्रदर्शन १२५ पृष्ठो से अधिक न हो।

हिन्दी नाटकों के सङ्केत शब्द बहुत ही कम लिखे जाते हैं। नाटककारों मे यह रुचि ही नही है कि वे मञ्च पर अपने विचारानुसार

अभिनय करायें। वे तो अपने कार्य की इतिश्री वहां समझते हैं जहाँ पात्रो के कथोपकथन मे अपने हृदय को सारी भावनाओ को भर दिया। इसके बाद वे नाटक से ऐसा हाथ सिकोड लेते है, मानो उनका उससे कोई सम्बन्ध ही नहीं। पाश्चात्य नाटको मे नाटककार अपनी इच्छा की चीजे मञ्च पर उपस्थित करा लेते है। वहाँ मञ्च संचालक को उनकी आज्ञा मे रहना पडता है। नाटककार अपने अंक के समयानुकूल जिन-जिन वस्तुओ की आवश्यकता मंच पर समझते है उन सब चीजों का निर्देश कर देते है। वे सारी चीजे मंचकर्ता को मञ्च पर उपस्थित करनी पडती है। पाश्चात्य नाटककार संकेत लिखने मे बहुत पटु होते हैं।

इस संकेत-चित्रण मे नाटककार वे सब बाते लिख देता है जो वह अपने अभिनय के लिये चाहता है; यहाँ तक कि पात्रो की आयु भी लिख देता है। अब सञ्चालक का कर्तव्य है कि वह उल्लिखित आयु के ही पात्र चुने और जो-जो वस्तुएँ नाटककार ने लिख दी है वे सब मञ्च पर इकट्ठी करे। जब नाटककार अपना नाटक मञ्च के लिये देता है तो उसे अधिकार है कि जो वातावरण या स्थिति वह चाहता है उसे मञ्च पर लाने की आज्ञा दे, किन्तु हिन्दी नाटककार कदाचित् बहुत संकोची हैं। वे मञ्च-कर्ता को कष्ट नही देना चाहते। वे अपना नाटक रङ्गमञ्च मे अभिनय करने के लिये दे देने पर बिलकुल फ़ुर्सत पा जाते है। वे नाटक के विकास अथवा कला-रूप मे तो पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करते हैं, पर संकेत-लेखन की ओर ध्यान नही देते। वे बेचारे मानों मञ्च-कर्ता के हाथों मे अपने को और अपने नाटक को सौंपते हुए कहते हैं—"भाई, तुम्हे जैसा अच्छा लगे, वैसा ही कर लो।" यदि मैनेजर अच्छा हुआ तो उसने नाटक को सम्हाल लिया और यदि नाटककार के दुर्भाग्य से ख़राब हुआ तो नाटक की असफलता का सारा दोष बेचारे नाटककार के सिर पर पडता है।

हमारे हिन्दी-नाटकों में भी सङ्केत भाषा का उचित प्रयोग होना

चाहिये; और साथ ही नाटककारो में अपने नाटक को अपनी रुचि के अनुसार अभिनीत कराने की आकांक्षा उत्पन्न होनी चाहिये।

अब मैं हिन्दी-नाटकों के 'स्वगत-कथन' पर विचार करना चाहता हूँ। हिन्दी-नाटको मे यह 'स्वगत-कथन' का रोग बहुत पुराना है। न जाने कितने वर्षों से यह हिन्दी-नाटको मे जोक के समान आकर चिपट गया है। पाश्चात्य नाट्यकला मे भी हम यही बात पाते हैं। शेक्सपियर के नाटको मे स्वगत-कथन की विशेष मात्रा है। सत्रहवी शताब्दी के आरम्भ मे शेक्सपियर ने जो ट्वेलफ्थ नाइट Twelfth Night नाम का एक नाटक लिखा है उसमे स्वगत-कथन पाया जाता है। आधुनिक समय में इसका प्रयोग अस्वाभाविक समझ कर घटाया जा रहा है।

स्वगत-कथन हिन्दी नाटको की पैतृक सम्पत्ति रहने पर भी अब काम की चीज नहीं है। यह नितान्त अस्वाभाविक है कि कोई व्यक्ति अपने आप ही बोलता हुआ चला जाय। न उसके साथ आदमी है न वह स्वयं आदमियो के साथ है, किन्तु वह जो मन मे आता है, बोलता चला जाता है। ऐसी स्थिति मे या तो हम उसे पागल कहेंगे या शराबी, या अफ़ीमची।

पाश्चात्य नाटककारो ने इस स्वगत-कथन के मिटाने की एक युक्ति सोच रक्खी है। उन्होंने एक नये विश्वास-पात्र की अवतारणा की है। स्वगत-कथन कहनेवाला जो कुछ भी कहना चाहता है वह उस विश्वास-पात्र से कहता है। इससे वह "अस्वाभाविक प्रलाप" के दोष से बच जाता है। इस युक्ति से पात्र एक दूसरे मे वार्तालाप करते हुए स्वगत-कथन से बच जाते है। हिन्दी-नाटको मे भी इस दोष के दूर करने का उपाय सोचना चाहिये। या तो पश्चात्य मच के अनुसार एक नये पात्र की सृष्टि कर लीचाहिये अथवा कोई ऐसी युक्ति निकालनी चाहिये जिससे स्वगत-कथन समुचित जान पड़े।

केवल स्वगत-कथन की पूर्ति करने के लिए नए विश्वास-पात्र पात्रो की सृष्टि करना नाटक मे अनावश्यक भरती करना समझा जा सकता है। इसलिए वर्तमान समय मे 'मूक-अभिनय' की शैली क प्रादुर्भाव हुआ है। इसमे स्वगत-कथन के स्थान पर शरीर की भिन्न-भिन्न मुद्राओ या इंगितो की सहायता से भाव की अभिव्यक्ति की जाती है। पाश्चात्य देशों मे इस नवीन परिपाटी से सफलता-पूर्वक अभिनय किया जाने लगा है।

हिन्दी-नाटकों मे एक दोष और भी है। वह पद्य मे बोलने का है। जिस स्थान पर उत्साह, क्रोध, करुणा आदि का प्रदर्शन करना पडता है, उस स्थान पर नाटककार शीघ्र ही गद्य से पद्य मे लिखने लगता है। यदि नाटक जीवन की छाया है, उसके अङ्गों का प्रदर्शन है, तो उसमे जीवन का चित्र भी रहना चाहिये। हम कभी अपने जीवन के साधारण व्यवहार मे पद्य का प्रयोग नही करते। यदि ऐसा होता तो सारा संसार ही कवि बन जाता। साधारण बोल-चाल ही जब हमारे भावो को प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है तो हमे उसमे पद्य लाने की आवश्यकता ही क्या है? यदि हम पद्य मे अपने दैनिक भावों का प्रदर्शन करें और अपने मित्र से, साधारण बोल-चाल मे, अपने सम्बन्धियों से साधारण व्यवहार मे—

> "भूख लगी है, थाली परसो,
> अब न करो थोडी भी देर।"

कहें तो वे इसे हँसी-दिल्लगी समझेंगे।

कहने का तात्पर्य यह है कि जब नाटक मे हम अपने जीवन की घटनायें देखना चाहते हैं तो उनका चित्रण ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा साधाणतः होता है। किन्तु हिन्दी नाटको मे अब तक ऐसा नही किया जाता। जो स्थल शोक, क्रोध, चिन्ता, वीरत्व आदि के है उनमें पात्र गद्य कहते-कहते पद्य भी कहने लगता है।

अब मुझे अभिनय के विषय मे कुछ कहना है। अभी तक हमारा रंग-मंच अच्छे अभिनेताओं से सूना है। उसका एक कारण है। भारतवर्ष का सभ्य समाज मञ्च को निकृष्ट स्थान समझता है और वहाँ उन्ही लोगों की कल्पना करता है जो ज्ञान और मान से रहित हैं। एक धार्मिक कथा है, जो किसी समय 'कलकत्तारिव्यू' मे प्रकाशित हुई थी। उसका सार यह है कि नाटक की प्रारम्भिक अवस्था मे गन्धर्वों और अप्सराओं ने किसी प्रहसन मे ऋषि-मुनियो का मज़ाक उडाया था। इस पर ऋषियो ने क्रोध मे आकर अभिनेताओं को शाप दिया कि तुम समाज मे अपमानित होकर नीची श्रेणी पाओ और शूद्रों के समकक्ष बने रहो। इसी कथा मे विश्वास रखकर शायद समाज अपने अच्छे-अच्छे पुरुष रंगमञ्च पर नही भेजना चाहता। किन्तु अब समय की गति बदल रही है। नाट्यकला का आदर चारो ओर हो रहा है। अभिनेताओ का सम्मान संसार मे आश्चर्य की वस्तु है। अभी उस दिन प्रसिद्ध हास्यअभिनेता चार्ली चेपलिन संसार के सबसे बड़े आदमियो मे परिगणित किया गया था। ऐसी स्थिति में जब संसार नाट्य और मञ्च-कला मे आगे बढ़ रहा है, तब केवल हिन्दी-संसार ही क्यो पीछे रहे! अब समाज को अपनी विचार-धारा दूसरी ओर मोड देनी चाहिये। उसे भी संसार के मञ्च पर अपने उत्कृष्ट कलाकार अभिनेताओ को भेजना चाहिये। पाश्चात्य देशों ने तो इस कला को सिखलाने के लिये ट्रेडयूनियन की तरह संस्थाएँ स्थापित कर ली है और बाजार के नियमो की भाँति जितनी अभिनेताओ की माँग होती है उतनी पूर्ति वे लोग करते हैं। ऐसा करने से इस व्यवसाय का महत्व कम नही होने पाता। हिन्दी मञ्च मे भी जिस दिन इस प्रकार माँग की पूर्ति होगी वह दिन हिन्दी मञ्च की उन्नति का सच्चा दिन होगा।

हिन्दी-मञ्च मे एक बात की और भी कमी है और वह यह कि स्त्रियाँ नाट्यकला में भाग नही लेती। प्राचीन समय के नाटको मे स्त्रिया बराबर भाग लेती थीं। गन्धर्वों के साथ अप्सरायें भी नृत्य और गान करती थी,

किन्तु इस समय मञ्च पर पुरुष ही स्त्री का काम चला लेते हैं। इसके दो कारण है एक तो परदा और दूसरा शिक्षा का अभाव। ये दोनो बातें पाश्चात्य समाज मे नही हैं। अतएव वहा स्त्रिया स्वतन्त्रता-पूर्वक रङ्ग-मञ्च पर आती हैं। हमे आशा है कि वह दिन शीघ्र ही आयेगा, जब स्त्रिया भी अपनी सुकुमार कला से हिन्दो-रङ्ग मञ्च को गौरवान्वित करेंगी।

---

(११)

हास्य का मनोविज्ञान

ले०—श्री कृष्णदेवप्रसाद गौड, एम० ए०, एल्-टी०

हँसी क्यो आती है? किसी बात अथवा किसी स्थिति के भीतर कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसे सुनकर या देखकर लोग खिलखिला पडते हैं? जब शब्दो मे श्लेष का व्यवहार होता है, जब कोई विचित्र आकार हम देखते हैं, जब हम सड़क पर किसी को बाइसिकल से फिसल कर गिरता देखते हैं अथवा जब किसी अभिनेता की विचित्र भावभंगी देखते हैं, हमे हँसी आ जाती है। क्या इन सब व्यापारो मे कोई ऐसी बात छिपी है जो सब मे सामान्य है? प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने शृङ्गार रस के अन्वेषण में इतनी छान-बीन की कि मालूम होता है, और रसो की सूक्ष्मता पर विचार करने का उन्हें अवकाश ही न मिला। हाँ, हास्य को उन्होने एक रस माना है अवश्य। इसका स्थायी भाव हँसी है—शब्द, वेश, कुरूपता इत्यादि उद्दीपन है। परंपरा के अनुसार इसके देवता, रंग, विभाव, अनुभाव, सब स्थिर कर लिए गए। यह भी बताया गया कि हँसी कितने प्रकारों की होती है। यह सभी बाह्य बातें है। जहाँ उद्दीपनों की व्याख्या इस रस के संबंध मे की गई वहाँ इसका भी विश्लेषण होना चाहिए था कि क्यों उन्हे देख-सुनकर हँसी आ जाती है। अरस्तू तथा अफलातून-जैसे विद्वानों ने इस पर प्रकाश डालने की चेष्टा की, पर असफल रहे। पाश्चात्य दार्शनिक सली, स्पेंसर आदि ने भी इस पर विवाद किया है। अधिकाश विद्वानों ने इसी तर्क मे अपनी शक्ति लगा दी है कि किस बात पर हँसी आती है। क्यों हँसी आती है, इधर कम लोगों ने ध्यान दिया है।

प्रत्येक परिहासपूर्ण विषय मे तीन बातो का समावेश होना आवश्यक है। पहली बात जो सब हसी की बातो मे पाई जाती है, वह है 'मानवता'। बहुत से लोगों ने मनुष्य को वह प्राणी बतलाया है जो हँसता है। कोई प्राकृतिक दृश्य हो, बडा मनलुभावना हो, सुंदर हो, परंतु उसे देखकर हॅसी नही आती। हॉ, किसी पेड की डाली का रूप किसी मनुष्य के चेहरे के आकार के समान बन गया हो, अथवा किसी पर्वत-शिला का रूप किसी व्यक्ति के अनुरूप हो तो उसे देखकर अवश्य हँसी आ जाती है। कोई विचित्र टोपी या कुर्त्ता देखकर भी हँसी आजाती है, परंतु सचमुच यदि हम ध्यान दे तो टोपी अथवा कुर्ते पर हँसी नही आती, बल्कि मनुष्य ने जो उसका रूप बना दिया है उसे देखकर हँसी आती है। इसी प्रकार सभी ऐसी बातो के संबंध मे—जिन्हे देख या सुन या पढ़कर हँसी आती है—यदि हम विचार करें तो जान पड़ेगा कि उसके आवरण मे मनुष्य किसी न किसी रूप मे छिपा है। दूसरी बात जो हँसी के विषय मे आचार्यों ने निश्चित की है वह है वेदना अथवा करुणा का अभाव। भारतीय शास्त्रियो ने भी करुण रस को हास्य का विरोधी माना है। जब तक मनुष्य का हृदय शात है, अविचलित है, तभी तक हास्य का प्रवेश हो सकता है। जहॉ कारुणिक भावों से हृदय उद्वेलित हो वहॉ हँसी कैसे आ सकती है? भावुकता हास्य की सब से बडी शत्रु है। इसका अर्थ यह नही है कि जो हमारी दया का पात्र है, अथवा जिसपर हम प्रेम करते है, उस पर हम हॅस नही सकते। परन्तु उस अवस्था मे, क्षण ही भर के लिये सही, हमारे मन से प्रेम अथवा करुणा का भाव हट जाता है। बड़े-बड़े विद्वानो की मंडली मे, जहॉ बड़े परिपक्व बुद्धिवाले हों, रोना चाहे कभी न होता हो, हँसी कुछ न कुछ होती ही है। परन्तु जहाँ ऐसे लोगो का समुदाय है जिनमे भावुकता की प्रधानता है—बात-बात मे जिनके हृदय पर चोट लगती है, उन्हे हँसी कभी आ नहीं सकती। तुलसीदास का एक सवैया है—

बिंध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।
गौतमतीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे॥
ह्वैहै सिला सब चंद्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ही भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे॥

इस कविता में व्यंग द्वारा जो परिहास किया गया है उसके कारण सहज ही मे हँसी आ जाती है ; परंतु यदि हम इसे पढ़कर उस काल के साधुओं के आचरण पर सोचने लगें तो हास्य के स्थान पर ग्लानि उत्पन्न होगी। संसार के प्रत्येक कार्य के साथ यदि सब लोग सहानुभूति का भाव रक्खे तो सारे संसार मे मुर्दनी छा जाएगी। सब लोगो के हृदय की भावनाओ के साथ हमारा हृदय भी स्पंदन करे तो हँसी नही आ सकती, और वही यदि तटस्थ रहकर संसार के सभी कृत्यों पर उदासीन व्यक्ति की भाँति देखा जाय तो अधिक बातो मे हँसी आ जाएगी। देहाती स्त्रियाँ किसी आत्मीय के मर जाने पर बडा वर्णन करके रोती हैं। यदि कोई उनका रोना सुने, पर यह उसे विश्वास हो कि कोई मरा नही है, तो सुननेवाले को हँसी आ जाएगी। रोने का अभिनय जो कितने अभिनेता करते हैं उसे सुनकर रुलाई नही आती, बल्कि हँसी; क्योकि वहाँ वेदना का अभाव है। दूसरा उदाहरण लीजिए। कही नाच होता हो और गाना एकदम बंद कर दिया जाय और बाजा भी, तो नाचनेवाले को देखकर तुरंत हँसी आ जाएगी। हँसी के लिए आवश्यक है कि थोडी देर के लिये हृदय बेहोश हो जाय। भावुकता की मृत्यु तथा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये जरूरी है। हँसी का संबंध बुद्धि और समझ से है, हृदय से नही। इसी के साथ तीसरी एक और बात है। बुद्धि का संबंध और लोगों की बुद्धियों से बना रहना चाहिए। अकेले विनोद का आनन्द कैसे आ सकता है ? हास्य के लिये प्रतिध्वनि की आवश्यकता है। जब कोई हँसता है तब उसे सुनकर और लोग भी हँसते हैं और हँसी गूंजती रहती है। परन्तु हँसनेवालों की संख्या अपरिमित नही हो सकती; एक विशेष समुदाय या समाज हो सकता है जिसे किसी विशेष बात पर

हँसी आ सकती है। सामयिक पत्रों में जो व्यंग-विनोद की चुटकियाँ प्रकाशित होती है उनका आनन्द इसी कारण सबको नही आता, जिन्हें कुछ बातें मालूम है उन्ही को हँसी आ सकती है। इसी प्रकार साधारणतः सब बातो में होता है। दस व्यक्ति बाते करते हों और हँसते हों—जिन्हें उन बातों का संकेत मालूम है वे तो हँसते है, और लोग बैठे बातें सुनते भी हैं तो हँसी नही आती। एक भाषा के विनोदात्मक लेखो का सफल अनुवाद दूसरी भाषा मे इसी कारण साधारणतः नही होता कि पहले देश की सामाजिक अथवा घरेलू अवस्था दूसरे से भिन्न है।

उपर्युक्त तीनो बातें प्रत्येक हास-परिहास के व्यापार के भीतर छिपी रहती है—चाहे वह व्यंग-चित्र हो, हास्याभिनय हो, व्यंगपूर्ण लेख अथवा कविता हो, इन तीन बातों की भित्ति पर यदि ये बने है तो हँसी आ सकती है, अन्यथा नहीं। यो तो सूक्ष्म विचार करने से हास्य का और भी विश्लेषण हो सकता है, पर यहाँ हम केवल एक बात और कहेंगे। हँसी के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु मे साधारणतः जो बाते हम देखते, सुनते, समझते या पाने की आशा करते है, उनमे सहसा या शनैः शनैः परिवर्त्तन हो जाय। यह भेद स्थान अथवा समय का हो सकता हैं। जिस स्थान पर जो बात होनी चाहिए उसका अभाव, अथवा न होना चाहिए उसका होना, हँसी पैदा कर देता है—यदि उसमे, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंभीरता का भाव न आने पाए। इसी प्रकार जिस समय जो बात होनी चाहिए या जिस समय जो न होना चाहिए, उसमें उस समय कोई बात न होना या होना। मुझे याद है, एक बार एक मित्र के यहाँ तेरहवीं के भोज में हम लोग गए थे। कुछ मित्र एक ओर बैठे हँसी-मजाक कर रहे थे और जोर-जोर से हँस रहे थे। यह देखकर जिसके यहाँ हम लोग गये थे उसने कहा कि आप लोगों को मालूम होना चाहिए कि आप लोग गमी की दावत मे आये हैं। यह सुनकर एक बहुत सीधे सज्जन ने उत्तर दिया कि फिर ऐसे मौके पर आएँगे तो न हँसेगे। इसे

सुनकर बड़े जोरों का कहकहा लगा । बात असामयिक थी और ऐसा न कहना चाहिए था, पर कहे जाने पर कोई हँसी न रोक सका । यहाँ पर साधारणतः जो व्यवहार मनुष्य को करना चाहिए था, अथवा जैसा सब लोग समझते थे कि ऐसे अवसर पर लोग व्यवहार करेंगे, उससे विपरीत बात हुई, इसी कारण हंसी आ गई । एक आदमी चला जा रहा है, रास्ते मे केले का छिलका पैर के नीचे पडता है और वह गिर पडता है, सब लोग हँस पडते है । यदि वह मनुष्य यकायक न गिरकर चलते-चलते धीरे से बैठ जाता तो लोग न हँसते । वास्तव मे जब किसी को लोग चलते देखते हैं तव यही आशा करते है कि वह चलता जायगा । पर वह जो यकायक बैठ जाता है, इस साधारण स्थिति मे यकायक परिवर्त्तन हो जाने के कारण हँसी आ जाती है । एक बार मेरे स्कूल के पास एक बारात ठहरी हुई थी । तंबू के नीचे नाच हो रहा था । तंबू की रस्सी मेरे स्कूल की दीवार मे कई जगह बँधी हुई थी । कुछ बालको ने शरारत से इधर की सब रस्सियाँ खोल दीं । एक ओर से तंबू गिरने लगा । यकायक सारी मंडली मे भगदड़ मच गई । जितने लोग बाहर देख रहे थे, महफिलवालों के भागने पर बडे जोर से हँसने लगे । यह जो स्थिति मे सहसा परिवर्त्तन हो गया, वही हँसी का कारण था । इसी प्रकार, कार्टून अथवा व्यंग-चित्र को देखकर हँसी इसलिये आती है कि जहाँ जिस वस्तु की आवश्यकता है, वहाँ उससे भिन्न—अनुपात से विरुद्ध—वस्तु मौजूद है । जहाँ डेढ इंच की नाक होनी चाहिए वहाँ तीन इंच की, जहाँ दो फीट के पैर होने चाहिएं वहाँ पाँच फीट के रहते है । हाजिरजवाबी की बातों पर भी इसीलिये हँसी आती है कि जैसे उत्तर की आशा सुनने-वाले को नहीं है वैसा श्लिष्ट, द्वयर्थक अथवा चमत्कारपूर्ण उत्तर मिल जाता है । यहाँ साधारण से भिन्न अवस्था हो जाती है । हाँ, यहाँ भी गंभीरता का भाव हृदय मे न आना चाहिए ।

ऊपर यह कहा गया है कि गंभीरता अथवा सहानुभूति का अभाव हास्य के लिये आवश्यक है । यह इसलिये कि करुणा, क्रोध, घृणा आदि

हास्य के बैरी है। हास्य से गंभीरता का इस प्रकार एक विचित्र तारतम्य है। किसी गंभीर बात पर साधारण सा परिवर्त्तन होने पर हँसी आ जाती है, पर यही हँसी धीरे-धीरे फिर गंभीरता धारण कर सकती है।
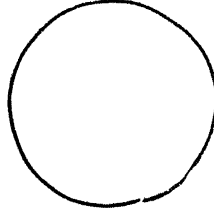
मान लीजिए, कोई सज्जन कहीं जाने के लिये कपड़ा पहनकर तैयार हैं और पान माँगते है। स्त्री एक तश्तरी मे पान लेकर आती है। वे पान खाते हैं। यहाँ तक कोई हँसी की बात नहीं है, न हँसी आती है; पूरी गंभीरता है। अब मान लीजिए कि पान मे चूना अधिक है। खाते ही जब चूना मुँह मे काटता है तो खानेवाला मुँह बनाता है। आप को उसे देखकर हँसी आती है। अब वह पान थूकता है और अनाप-शनाप बकने लगता है। इस समय वह हास्यास्पद हो जाता है। इसी क्रोध में वह तश्तरी उठाकर अपनी स्त्री के ऊपर फेंक देता है। अब उसे देखकर हँसी नहीं आती, बल्कि घृणा होती है। इसके बाद हम देखते हैं कि स्त्री के हाथ मे तश्तरी से चोट आ गई है। अब हमे क्रोध आ जाता है और पुनः हम गंभीर हो जाते हैं। इस प्रकार हम देखते है कि गंभीरता का विचार-मात्र हास्य के लिये घातक है। साथ ही यह भी है, कि गंभीरता की जब अति होने लगती है तब हास्य की उत्पत्ति होती है। हास्य की मनोवृत्ति केवल बुद्धि पर अवलंबित है। यह समझना भूल है कि बुद्धिमान् लोग नही हँसते। गंभीर लोग नहीं हँसते, गंभीर लोगो पर हँसी

आती है। हाँ, हास्य की पूर्त्ति के लिये व्यंग एक आवश्यक वस्तु है। यह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो सकता है और भद्दा से भद्दा। प्राचीन संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य में, विशेषतः कविता मे, और अँगरेजी साहित्य में भी, प्रचुर परिमाण में व्यंगपूर्ण परिहास मिलता है। व्यंग मे भी सामान्य अथवा साधारण स्थिति में जो होना चाहिए उसके अभाव की ओर संकेत रहता है, इसी से उसे पढ़कर या सुनकर हँसी आती है।

(१२)

भारतीय काव्य-दृष्टि

ले०—कविवर पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"

महर्षियो ने दर्शनों से विश्व को जो सत्य दिया, वह कभी बदलता नही। वह काल से अभेद तथा भिन्न भी है, इसलिये अमर और अक्षय है। वह न पुरुष है, न स्त्री, इसलिये उसे "तत सत्" कहा। वह आज कल की विश्व-भावना विश्व-मैत्री आदि कल्पना-कलुषित बुद्धि से दूर, वाणी और मन की पहुँच से बाहर है, जड़ की सहायता से वह अपनी व्याख्या नही कराना चाहता, इस तरह उसमे जडत्व का दोष आ जाता है, वह स्वयं ही प्रकाशमान् है—बिनुपद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै बिधि नाना—आदि आदि से कर्ता भी वही है, जड मे कर्म करने की शक्ति कहाँ? मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को शास्त्र-कारो ने जड कहा है, क्योकि वे पंचभूतों के जड पिंड का आश्रय लिये हुए है, और मृत्यु होने पर कारण-शरीर मे तन्मय रहते हैं—इन्हे लिंग-ज्ञान भी है—इस तरह जड़त्व-वर्जित न होने के कारण इन्हे भी, ब्रह्म से बहिर्गत कर, जड कहा है, यद्यपि ब्रह्म के प्रकाश को पाकर ही ये क्रियाशील होते हैं। कुछ हो, ये सब यंत्र ही है, कर्ता वही है और उसके कर्तृत्व का एकाधिकार समझ कर ही उसे "कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः" कहा है।

इस तरह कवि भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है, जड़ शरीर से ध्यान छूट जाता, जड शरीर वाले कवि की आत्मा दीख पडती है। इसकी स्पष्ट व्याख्या इस तरह होगी—जैसे बालक कवि मे कविता करने की शक्ति न थी, शक्ति का विकास हो रहा था, न मन मे सोचने की शक्ति

थी, न अंगों में संचालन-क्रिया की। धीरे धीरे, शक्ति के विकास के साथ-ही-साथ जिस जाति और वंश मे वह पैदा हुआ—उसके संस्कारो को लिये हुए, वह बढ़ने लगा, पढ़ने लगा, अपने व्यक्तित्व पर जोर देकर बडा होने लगा। उसे अपनी रुचि का अनुभव हुआ, इस तरह चेतन और जड़ का मिश्रित प्रवाह उसके भीतर से अपनी सत्ता को संसार की अनेक सत्ताओ से विश्लिष्ट कर बहने लगा। एक दिन उसे मालूम हुआ, उसकी रुचि कविता पर अधिक है। यहाँ, इस रुचि को पकड़िए, यह जहां से आई है, वह ब्रह्म है, जहां अब उसकी बाह्य शिक्षा ठहरेगी—जिस तरह से वह भविष्य मे कवि होगा, वह केन्द्र भी ब्रह्म ही है, जीवात्मा का संयोग लिये हुए। इस तरह भारतीयों ने ब्रह्म को ही कवि स्वीकार किया है। यह रुचि या इच्छा क्यो पैदा होती है, इसका कारण अभी तक नही बतलाया जा सका, यहाँ भारतीय शास्त्र मौन है, और है भी यही यथार्थ उत्तर, क्योंकि, जब एक के सिवा दूसरा है ही नहीं, तब उस एक की रुचि का कारण कौन बतलाए ? इसलिये ही कहा है नमक का पुतला समुद्र की थाह लेने के लिये जाकर गल गया, ख़बर देने के लिये न लौटा।

भारत की कविता मे भी एक विचित्र तत्त्व है। थोड़ी देर के लिये ब्रजभाषा को जाने दीजिए, संस्कृत को लीजिए। और ब्रजभाषा के श्रृंगारी कवियो को दुनाली बन्दूक के सामने रखकर, "Strike but hear" के अनुसार ज़रा सुन भी लीजिए। संस्कृत-काल के व्यास और शुकदेव प्रसिद्ध ऋषि है। शुकदेव की जीवनी किसी भारतीय से अविदित न होगी। इन दोनो महापुरुषो का स्मरण कर भागवत भी देखिए, एक ओर कवि के गहन वैदान्तिक विचार और दूसरी ओर गोपियों के श्रृंगार-वर्णन मे अश्लीलता की हद्, जैसा कि आजकल के विद्वान् कहेगे। उधर गीत-गोविंद के प्रणेता भी कितने बड़े वैष्णव और भक्त थे, यह किसी पढ़े-लिखे महाशय से छिपा नही है। उनके भी—

"गोपी-पीन-पयोधर-मर्दन-चंचल-कर-युगशाली—
धीर-समीरे यमुना-तीरे वसति वने वनमाली"—

अयि प्रिये, "मुंच मयि मानमनिदानम्"—आदि देखिए। और इधर फिर विद्यापति, जिनके—

"चरन-चपल-गति लोचन नेल"
"चरन-चपलता लोचन नेल"

पद्य हैं। विद्यापति भी प्रसिद्ध चरित्रवान् थे, नौकर के रूप से रहकर जिन्हें भगवान् विश्वनाथ ने दर्शन देने की कृपा की। आजकल की प्रचलित अश्लीलता का प्रसंग सामने आने पर शायद वे अपने किसी भी समान-धर्मी से घट कर न होगे—

"दिन दिन पयोधर भै गेल पीन ;
बाढ़ल नितम्ब माझ भेल खीन।
"थरथरि कापल लहु लहु भास ;
लाजे न वचन करइ परकास।"
"नीबिबन्धन हरि काहे कर दूर ,
एहो पै तोहार मनोरथ पूर।"

आदि आदि—अश्लील से अश्लील वर्णन उन्होने किए है।

यही हाल बँगला के प्रथम और सर्वमान्य कबि चडिदास का रहा, जिन्हे देवी के साक्षात् दर्शन हुए और कृष्ण की मधुर रस से उपासना करने की, देवी के आचरण से, जिनकी प्रवृत्ति हुई—अवश्य औरों की तरह वे अश्लील नही हो सके। इधर ब्रजभाषा मे भी यही दशा रही। संस्कृत के प्रसिद्ध श्रीहर्ष और कालिदास का तो ज़िक्र ही नहीं किया गया।

हिन्दी मे भी राम और कृष्ण का साहित्य वेदांत का रूपक है। ऐतिहासिकता उसमे नहीं भी हो सकती। पर तत्त्व है। प्राकृत अवस्था है। इसलिये ऐतिहासिकता में सत्य का भान है; अतएव वह इतिहास

सत्य भी हो सकता है। पश्चिम के विद्वान् राम और कृष्ण को इतिहास-पुरुष नहीं मानते। यहाँ वाले साबित करते है। यह बहुत साधारण कोटि के सिद्धांत को लेकर प्रयत्न किया जाता है। क्योंकि इतिहास-सत्य से तत्त्व और भी बड़ा है। जिस सभ्यता के प्रदर्शन के लिये इतिहास की आवश्यकता है, वह राम और कृष्ण के साहित्य मे बड़ी खूबी से, बहुत बडे ज्ञान के भीतर, अर्णव-पोत की भाँति, प्रतिष्ठित है।

रामायण की भूमिका मे ही तुलसीदासजी ने राम का यथार्थ मतलब लिख दिया है, जगह जगह उस पर जोर भी दे रहे है—"रघुपति-महिमा अगुण अबाधा, बरनब सोई वर वारि अगाधा।" राम की निर्गुण निर्बाध महिमा ही रामचरित-मानस सरोवर का निर्मल अगाध जल है। यह राम का यथार्थ रूप है। फिर "बन्दौं राम-नाम रघुवर के; हेतु कृषानु, भानु, हिमकर के।" यहाँ बाहर भी सब सृष्टि जीव-जगत् मे राम की बीजरूप सत्ता रही—अब आकार नहीं रहा। पर चूंकि आकारों मे भी पुरुष-प्रकृति-रूप से वही है, इसलिये—"राम-सीय-यश-सलिल सुधासम; बरनत बीचि-विलास मनोरम।" रूपों को उस जल की ही तरंगें बतलाया। सात काण्ड रामायण शरीर के सात चक्रो का रूपक है। हर शरीर रामायण है। उसके सात काण्ड हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपूर (४) अनाहत (५) विशुद्ध (६) आज्ञा (७) सहस्रार। मूलाधार मे शक्ति का स्थान है। यह चक्र सब से नीचे है। सहस्रार मे ब्रह्म का स्थान है। यह सब से ऊपर है। सीता पृथ्वी मे निकलती है सब से नीचे वाले तत्त्व से। यह माध्याकर्षण शक्ति का रूपक है। इसीलिये लीला के अन्त मे भूगर्भ मे ही उनका प्रवेश होता है। कितना सार्थक ऋषि-दर्शन, लीला-कल्पना है! राम सहस्रार के ब्रह्म रूप है। लीला के बाद वे वहीं चले जाते हैं। यदि सीता राम के साथ सहस्रार चली गई होती तो आज हम यह संसार न देख सकते; क्योंकि शक्ति का अभाव साबित होता। ऋषि-कल्पना में दोष आ जाता। लीला के अंत मे भी, लीला से पहले की तरह,

सहस्रार-तत्त्व राम और मूलाधार-तत्त्व-सीता हर मनुष्य मे वास कर रही हैं। मानव सुख दुःख के भीतर से तत्त्वों से आए हुए तत्त्व अपने तत्त्वो मे ही अवसित हुए। साधारण जन लीला-चित्र देखते हैं, विज्ञ यह छायावाद पढ़ते हैं।

कृष्ण भी वेदान्त-तत्त्व के रूपक है। कृष्ण का रङ्ग श्याम है। आकाश का रंग या महा-समुद्र का जल श्याम देख पडता है। पर उनका रंग कोई नही। कृष्ण उसी असीम सत्ता के रूपक है, इसलिये श्याम है। राम भी इसीलिए "श्याम-सरोज-दाम-सम सुन्दर" है। कृष्ण की वंशी उनका विशुद्ध-हृदय है जहाँ से बेफॉस परिष्कृत स्पष्ट स्वर निकलता है। यंत्रों मे वंशी से बारीक और साफ़ स्वर और किसी यंत्र का नही। वे गोपाल है—इन्द्रियो के रक्षक मनस्तत्त्व—आत्मा, उधर चरवाहे। वे दुर्योधन और दुःशासन के प्रतिकूल रहते है—युधिष्ठिर की सहायता करते हैं। तमाम शब्दों से ऐसे ऐसे अर्थ निकलते है, जिनसे तत्त्व-सङ्गति बड़ी ही सुन्दर होती जाती है। उच्च साहित्य अपना विकास प्रदर्शित करता जाता है। उसका साधारण रूपक खिलौना-पसंद बच्चों को भी अपनी चमक-दमक मे बहला रखता है और लीला या खेलो के भीतर से एक अति-मानवीय शिक्षा भी दे जाता है। इस प्रकार हम देखते है, हमारे सभी पुराणो की छोटी छोटी कथाओ मे अध्यात्म के बड़े से बडे तत्त्व निहित है, और हमारी जाति ही आध्यात्मिक जाति है। ज्ञात और अज्ञात भाव से अध्यात्म को ही उसने अपने प्रथम विकास-काल से स्वीकृत किया है।

भारतवर्ष और यूरोप की भावना की भूमि एक होने पर भी दोनो की भावनाओ के प्रसरण का ढंग अलग-अलग है। रवीन्द्रनाथ की युक्ति के अनुसार योरप की कविता के सितार मे बोलवाले तार की अपेक्षा स्वर भरनेवाले तारों की झनकार अधिक रहती है। परन्तु भारतवर्ष मे विशेष ध्यान रस-पुष्टि की ओर रहने के कारण प्राणों का संचार कविता में अधिक दिखलाई पडता है। यहाँ के कवि व्यर्थ की बकवाद नही

करते । यहाँ-वहाँ के उपमान उपमेयों का ढंग भी जुदा-जुदा है । यहाँ की उपमा जितनी चुभती है, वहाँ की उपमा उतना प्रभाव नही कर सकती । यहाँ प्रेम है, वहाँ मादकता । यहाँ दैवी शक्ति है वहाँ आसुरी । इसलिए यहाँ की कविता मे एक प्रकाश की शक्ति रहती है और वहाँ की कविता मे प्रगल्भता । दिव्य भाव की वर्णना तो आजतक मैंने वहाँ की किसी कविता मे नही देखी और यहाँ यही प्रधान है । यदि तुलसीकृत रामायण का अनुवाद किसी विद्वान् अँगरेज़ के सामने रख दिया जाय, तो शायद् ही श्री गोस्वामीजी की कविता मे उसे कोई कला (art) दिखलाई पड़े और उनके लक्ष्मण, सुमित्रा, सीता और भरत के चरित्र-चित्रण को देखकर, वह उन्हे हाल ही दुम लगाकर लौटा हुआ सिद्ध करने से शान्त रहे । विभीषण से वह कितना प्रसन्न होगा, सहज ही अनुमान किया जा सकता है । एशिया के कवियो में उमरखैयाम की योरप मे अधिक प्रशंशा होने का कारण जितना उसकी कविता नही, उससे अधिक उसके उपकरण, शराब, कबाब, नायिका और निर्जन है । ब्रजभाषा की कविता का जितना अंश अश्लीलता के प्रसंग से अशिष्ट बतलाया जाता है, वह फिर भी मानवीय है, आसुरी नही । रहा आह भरना, कटाक्ष करना और नीर-भरी गगरी ढरकाना, सो मानवीय सृष्टि मे शृङ्गार का परिपाक नायिकाओ के इन्ही व्यवहारो, इन्ही आचरणों, सामाजिक इन्हीं नियमो के आश्रय से हो सकता है । न ब्रजभाषा-काल मे अँगरेजी सभ्यता का प्रकोप भारतवर्ष मे हुआ, न गधे के चित्रण मे आर्ट (art) दिखलाने की कवियो को ज़रूरत मालूम पडी । हाँ, मानवीय सृष्टि मे उस समय अश्लीलता की हद कुछ अधिक हो गई थी, मनुष्यों के नैतिक पतन के कारण ।

परन्तु, मियाँ की दौड मसजिद तक के अनुसार, ब्रजभाषा के कवियो पर वृन्दावन, गोकुल, मथुरा और नन्दगाव के इर्द-गिर्द चक्कर लगाते रहने का जो लांछन लगाया जाता है, उसका मुख्य कारण यह नही कि वे राष्ट्र के अष्टावक्र वाद-विवाद से अनभिज्ञ थे । ब्रजभाषा के एक

"भूषण" ने भारतीय राष्ट्र के लिये जो कार्य किया, वैसा कार्य इधर तीन सौ वर्ष के अंदर समग्र भारतवर्ष मे अपनी कवित्व-प्रतिभा द्वारा कोई दूसरा कवि नही कर सका। प्रचलित रीतियो और अपने जातीय मेरु-मूलधर्म-भावो से प्रेरित होकर एक कृष्ण को ही उन लोगो ने अपनी रस-सृष्टि का मूलाधार-स्वरूप ग्रहण किया, और स्मरण रहे, कृष्ण वह हैं, जिनके पेट मे चौदहो भुवन—एक यह पृथ्वी या केवल योरप नहीं—चौदहो भुवन समाए हुए है। सर जगदीशचन्द्र को जिस दिन एक घोंघे मे वीक्षण-यंत्र द्वारा आश्चर्यकर अनेक विषय – अनेक सृष्टिया दिखलाई पडी थीं, उस दिन भारत के महर्षियो के मानसिक विश्लेषण पर श्रद्धा प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा था, जी चाहता है, यह सब वैज्ञानिक विश्लेषण-कार्य छोड दूँ, अपने ऋषियो के गौरव की पूजा करूँ। कृष्ण की गोपियो के साथ जो मधुर रसोपासना हुई थी, स्वामी विवेकानन्दजी उसके संबन्ध मे कहते है कि वह इतने उच्च भावो की है कि जब तक चरित्र मे कोई शुकदेव न होगा, तब तक श्रीकृष्ण की रासलीला के समझने का अधिकारी वह नहीं हो सकता। कृष्ण का महान् त्याग, उज्ज्वल प्रेम, गीता मे सर्व-धर्म-समन्वय, भारत का सर्वमान्य नेतृत्व, भारतवासियो के हृदय मे स्वभावत पुष्प-चंदन से अर्चित हुआ और वृन्दावन का कतरा ब्रजभाषा के कवियो को दरिया नजर आया। वासनावाले कवियो ने श्रीकृष्ण की वर्णना मे ही अपने हृदय का जहर निकाला—इस तरह जहाँ तक हो सका, अपने धर्म को ही वासना से अधिक महत्व दिया। कुछ लोगो ने राजो-महाराजो और अपने प्रेम-पात्रो पर भी कविताएँ लिखी।

सूर की पदावली के एक पद की अंतिम लडी शायद यो है—"समझ्यो सूर सकट पगु पेलत।" इस पद के पढते समय दर्शन-शास्त्र की सर्वोच्च युक्ति दिखलाई पडती है। इस पद मे कहा गया है, बालक श्रीकृष्ण अपना अंगूठा मुँह में डाल रहे हैं और इससे तमाम ब्रह्माड डोल रहा है—दिग्दन्ती अपने दाँतो से दृढ़ता-पूर्वक धरा-भार के धारण

का प्रयत्न कर रहे हैं। इन पंक्तियों मे भक्तराज श्रीसूरदासजी का अभिप्राय यह है कि किसी एक केन्द्र के चेतन स्वरूप से तमाम संसार, संपूर्ण विश्वब्रह्माड के प्राणी गुँथे हुए है, इसलिये उनके हिलने से यह सौर-संसार भी हिलता है। दिग्गजों और शेषजी को धारण करने की शक्ति दी गई है। ताकि प्रलय न हो जाय। इसलिये श्रीकृष्ण की— मुख में अँगूठा डालने की चेष्टा से हिलते हुए तमाम चेतन संसार को शेष और दिग्गज अपनी धारणाशक्ति से बार-बार धारण करते है। इस चेतन के कम्पन-गुण से कही कही खण्ड-प्रलय हो भी जाता है। अस्तु भारतीय विश्ववाद इस प्रकार का चेतन-वाद है जिसमे अगणित सौर-संसार अपने सृष्टि-नियमो के चक्र से विवर्तित होते जा रहे है। सूर ने चेतन की यह क्रिया समझी, इसीलिये "सकट पगु पेलत"—धीरे-धीरे चल रहे हैं—स्थिर होकर क्रमशः चेतन-समाधि मे मग्न होने की चेष्टा कर रहे हैं—साधना कर रहे है। हर एक केन्द्र मे वह चेतन स्वरूप, वह आत्मा वह विभु मौजूद है। सूर ने कृष्ण के ही उज्ज्वल केन्द्र को ग्रहण किया, तुलसी ने श्रीरामचन्द्र के केन्द्र को और कबीर ने 'निर्गुन आत्मा' को – बिना केन्द्र के केन्द्र को। भारत के सिद्धान्त से यथार्थ विश्वकवि यही हैं—कबीर, सूर और तुलसी-जैसे महाशक्ति के आधार-स्तंभ। तुलसी भी—"उदर माँझ सुनु अंडजराया, देख्यों बहु ब्रह्माड निकाया" से अगणित विश्व की वर्णना कर जाते है, और यह भ्रम नहीं—वे ज़ोर देकर कहते हैं—"यह सब मै निज नयनन देखा।" भारत का विश्ववाद इस प्रकार है। भारत के विश्वकबि जड विश्व की धूल पाठकों पर नही झोंकते—वे ब्रह्मांडमय चेतन का अंजन उनकी आँखो मे लगाते हैं।

वर्तमान विश्ववाद ब्रजभाषा और भारतवर्ष की तमाम भाषाओं के कवियों मे चेतन-वाद या बेदांतवेद्य अनंतवाद के रूप मे मिलता है। जो लोग यह समझते हैं कि भारतवर्ष के पिछले दिनों मे लोगों की बुद्धि संकुचित हो गई थी,—यह कहने का साहस कर बैठते है कि

ब्रजभाषा मे कुछ कवियों को छोड़ कर प्राय. अन्यान्य और सब कवि एक साधारण सीमा के अंदर ही तेली के बैल की तरह अंध चक्कर काटते चले गये है, वे वास्तव मे ग़लती पर हैं। यह अवश्य है कि भारतवर्ष की उदारता, उसका विशाल हृदय, मुसलमानो से लडते-लडते प्रतिघातों के फल से धार्मिक संकीर्णता मे मृदु-स्पंदित होने लगा था, और उसकी व्यावहारिक विशालता चौके के अंदर आ गई थो , परन्तु, दार्शनिक अनु-लोम-विलोम के विचार से बाहरी आसुरी दबाव के कारण भारतीय दिव्य प्रकृतिवाले मनुष्यो का इतना संकुचित हो जाना स्वाभाविक सत्यका ही परिचायक सिद्ध होता है। हर एक मनुष्य, हर एक प्रकृति, हर एक जाति, हर एक देश दबाव से संकुचित रूप धारण करता है। ब्रजभाषा-काल मे इस दबाव का प्रभाव जातीय साहित्य मे भी पडा, और उस काल की हमारी हार हमारी संकुचित वृत्ति का यथेष्ट परिचय देती है, यह सब ठीक है; परन्तु इसमे भी सन्देह नही कि वह दबाव आवश्यक था, जाति को संकुचित करके उसे शक्तिशाली सिद्ध करने के लिये—शेर जब शिकार पर टूटता है तब, पहले उसकी तमाम वृत्तियाँ—सारा शरीर सिकुड जाता है और इस सङ्कोच से ही उसमे दूर तक छलाग भरने की शक्ति आती है। ब्रजभाषा-काल का जातीय संकोच जिस तरह देखने के लिये बहुत छोटा है, उसी तरह उसने छलांग भी भरी उससे बहुत लम्बी—धर्म के नाम पर इस काल के इतना त्याग शायद ही भारतवर्ष ने दिखाया हो—"Either sword or Quran" वाले धर्म के सामने हर्ष-विषाद-रहित हो जाति के वीरों ने अपने धर्म-गर्वोन्नत मस्तकों की भेंट चढ़ाई। एक-दो नही, अगणित सीताएँ और सावित्रियाँ पैदा होकर अपने उज्ज्वल सतीत्व का जौहर दिखलाती गईं। उस संकोच के भीतर से करोड़ों शेर कूदे, आज जिनकी वीरता ब्रजभाषा-काल के साहित्य के पृष्ठों मे नहीं, चारणों के मुखों मे प्रतिध्वनित हो रही है, जैसे उस समय की सीमा को वे बीर एक ही छलाँग मे पार कर गये और अपने भविष्य-वंशजों के पैरो में एक छोटी-सी बेड़ी डाल गये—

भविष्य के सुधार की आशा से। आजकल के साहित्यिक चीत्कार इसी बेडी के तोडने के लिये हो रहे हैं—धार्मिक, सामाजिक और नैतिक निनादो के साथ-साथ।

जिस तरह धार्मिक छलाँग भरी गई, उसी तरह साहित्यिक भी—हमेशा ध्यान रक्खा गया, एक पद्य के अन्दर—एक छोटी-सी सीमा मे भावो की विशालता ला दी जाय। मथुरा-व्रज-गोकुल और द्वारका की छोटी सी सीमा मे भटकने का कोई कारण नही—यह तो कवियो के भावो की दिव्य आधार कृष्ण पर की गई प्रीति है—भाव ग्रहण करना चाहिए, न कि केवल "श्याम" के नाम ही पर ध्यान देना चाहिए, देखिए—

सावन-बहार झूलै घन की घुमंड पर,
घन की घुमंड पौन चञ्चला के दोले पै।
चञ्चला हू झूलै घन सेवक अकास पर,
झूलत अकास लाज-हौसले के टोले पै।"

लाज और हौसले के टोले मे आकाश झूलता है,—समाज और हौसले के आनन्द के कम्पन से तमाम प्रकृति—समस्त आकाश के परमाणु आनन्द से काँपते हैं—देखिए चेतन—देखिए सौंदर्य की दिव्य मूर्ति—आकाश जैसे बड़े को लाज-जैसी छोटी-सी सखी के टोले मे झुला दिया—कितने बड़े को कितने छोटे मे!

प्रकृति की एक साधारण सी बात पर कवि की कल्पना मे कितनी सुकुमारता आ सकती है, रवीन्द्रनाथ की पंक्तियो से बहुत ही स्पष्ट परिचय मिल रहा है, "नदी की लहर तट की पुष्पित डाली के पुष्प को स्पर्श कर बहती चली जाती है;" इस पर, कवि, लहर की सजीवता, उसके आने का कारण—क्रीडाच्छल, स्पर्श से पुष्प को चूमना और स्वभाव मे लहर का प्रकृति-सिद्ध पलायन—चञ्चलता दिखलाकर प्राकृतिक सत्य को कल्पना से सजीव कर देता है। और

इसके पश्चात्, फूल की तरुणी कामिनी का हाल लिखकर आदिरस को वेदांत के लोकोत्तरानन्द में ले जाकर परिसमाप्त करता है। बाद के अंश का प्राकृतिक सत्य यह है :—"लहर के छू जाने पर डाली और फूल हिलते हैं, फिर फूल खुल कर नदी मे गिर जाता है।" पहले कहा जा चुका है कि फूल को चूमकर लहर भग गई। वहाँ यह पुष्प पुरुष-पुष्प है। पुरुष-पुष्प को चंचला नायिका के चूम कर भग जाने के पश्चात्, दूसरी अधखिली कली को, जो चूमी नही गई, कवि, फूल की तरुणी कामिनी कल्पना कर, उसकी लज्जा, कंपन, स्खलन और बह कर असीम मे मिलने के अङ्कन-सौदर्य से, कविता में स्वर्गीय विभूति भर देता है—

"शरम-विभला कुसुम-रमणी"—

"शर्म से कुसुम-कामिनी व्याकुल है" इसलिये कि अभिसारिका उसके प्रेमी को चूमकर चली जा रही है—

"फिरावे आनन शिहरि अमनि"

"शिहरि"=कापकर (यह कंपन, प्राकृतिक सत्य से, लहर के छू जाने पर डाली के साथ कली के काप उठने से, लिया गया है) तत्काल वह मुँह फेर लेगी। (प्रेमिका का मान, लज्जा, अपने नायको से उदासीनता आदि, मुख फेर लेने के साथ, प्रकट है, उधर, डाल के हिलने, हवा के लगने से अधखिली कली का एक ओर से दूसरी ओर झुक जाना प्राकृतिक सत्य है, जिस पर यह सार्थक कल्पना का प्रवाह बह रहा है।)—

"आवेशे ते शेषे अवश होइया
खसिया पड़िया जावे"—

"अन्त मे वह आवेश से शिथिल हो खुलकर गिर जायगी।" (डाल के हिलने से उस सद्यःस्फुट कली का वृन्त से च्युत होना प्राकृतिक सत्य है, इसे कल्पना का रूप देकर कवि कहता है, वह पुष्प

की तरुणी प्रिया, आवेश से—भावातिरेक से शिथिल होकर नदी के ऊपर, वक्ष मे, गिर जायगी।)—

"भेसे गिये शेषे कादिबे हाय
किनारा कोथाय पाबे।"—

"हाय! वह बहती हुई रोवेगी, क्या कही उसे किनारा प्राप्त होगा?"

"हाय" और "कोथाय" के बीच, उत्थान और पतन के स्वर-हिलोर मे बहती हुई कुसुम कामिनी को जैसे वास्तव मे कही किनारा न मिल रहा हो। कामिनी को अकूल अदृश्य की ओर बहाकर कवि पाठको को भी निःसीम आनन्द मे बहा देता है।

योरप की कविता के जो अच्छे गुण है, मै उनका हृदय से भक्त हूँ, उनकी वर्णना-शक्ति स्वीकार करता हूँ, परन्तु यह उन्ही की दृष्टि से, तुलनात्मक समालोचना द्वारा नही। जिस दिन भारत मे अपने पैरो खडे होने की शक्ति आएगी—यह स्वाधीन होगा—उस दिन तक यूरप के इन भावो की क्या दशा रहती है, हम लोग दस-बीस जीवन के बाद देखेंगे। उस समय समालोचना की ये बाते याद न रहेंगी। ब्रजभाषा के पक्ष की अनेक बातें, अनेक उदाहरण, प्रासंगिक होने पर भी, नही दिये जा रहे है। ब्रजभाषा के कवियो ने सौंदर्य को इतनी दृष्टियों से देखा है कि शायद ही कोई सौंदर्य उनसे छूटा हो—शायद ही किसी दूसरी जाति ने अपने सुख के दिन इतनी आवारगी मे बिताये हो और वह जाति जागृत होने के बदले काल के गर्भ मे चिरकाल के लिये विलीन न हो गई हो।

इस समय देश में जितने प्रकार की विभिन्न भावनाएँ; हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि आदि की जातीय रेखाओ से चक्कर काटती हुई गंगा-सागर, मक्का और जरूसलेम की तरफ चलती रहती है, जिनसे कभी एकता का सूत्र टूटता है, कभी घोर शत्रुता ठन जाती है, उनके इन दुष्कृत्यों का सुधार भी साहित्य मे है और उसी पर अमल करना हमारे इस समय के साहित्य के लिये नवीन कार्य, नई स्फूर्ति भरने

वाला, नया जीवन फूँकने वाला है। साहित्य में बहिर्जगत-सम्बन्धी इतनी बडी भावना भरनी चाहिए जिसके प्रसार मे केवल मक्का और जरूसलेम ही नही, किन्तु संपूर्ण पृथ्वी आ जाय। यदि हद गङ्गासागर तक ही रही तो कुछ जन-समूह मे मक्के का खिंचाव जरूर होगा या बुद्धदेव की तरह वेद-भगवान् के विरोधी घर ही मे पैदा होगे। पर मन से यदि ये जड-संयोग ही गायब कर दिये जा सकें तो तमाम दुनियाँ के तीर्थ होने मे संदेह भी न रह जाय। यह भावना साहित्य की सब शाखाओ, सब अङ्गों के लिए हो और वैसे ही साहित्य की सृष्टि।

यह साहित्यिक रङ्ग यहीं का है। कालक्रम से अब हम लोग उस रङ्ग से खीचे हुए चित्रो से इतने प्रभावित है कि उस रङ्ग की याद ही नही, न उस रङ्ग के चित्र से अलग होने को कल्पना कर सकते है और इसीलिए पूर्ण मौलिक बन भी नही पाते, न उससे समयानुकूल ऐसे चित्र खीच सकते हैं जो समष्टिगत मन की शुद्धि के कारण हो।

राजनीति मे जाति-पाँति-रहित एक व्यापक विचार का ही फल है कि एक ही वक्त तमाम देश के भिन्न भिन्न वर्गों के लोग समस्वर से बोलने और एक राह से गुजरने लगते है। उनमे जितने अंशो मे व्यक्तिगत रूप से सीमित विचार रहते हैं उतने ही अंशों में वे एक दूसरे से अलग है, इसलिए कमजोर। साहित्य यह काम और खूबी से कर सकता है जब वह किसी भी सीमित भावना पर ठहरा न हो। जब हर व्यक्ति हर व्यक्ति को अपनी अविभाजित भावना से देखेगा तब विरोध मे खड-क्रिया होगी ही नही। यही आधुनिक साहित्य का ध्येय है। इसके फल की कल्पना कर लीजिए।

प्रायः सभी कलाओं के लिये मूर्ति आवश्यक है। अप्रतिहत मूर्ति-प्रेम ही कला की जन्मदात्री है। जो भावना-पूर्ण सर्वांग-सुन्दर मूर्ति खीचने मे जितना कृतविद्य है वह उतना बडा कलाकार है। पश्चिमी सभ्यता के मध्यकाल तक जब संसार की विभिन्न-सभ्यता-प्रसूत वस्तु-भावनाओं का श्रेणी-विभाग, संचय तथा उपयोग नही हुआ था

कलाएं अपने-अपने देश, संस्कृति तथा चलन के अनुसार बिभिन्न आकार, इङ्गित तथा भावनाएँ प्रदर्शित करती हुई भी एक ऐसी व्यञ्जना कर रही थी जो अनेकों विभिन्नताओं के भीतर से एक भाव-साम्य की स्थापना करती थी। संसार की भौतिक सभ्यता से सब देशों के गुँथ जाने के कारण संसार भर के लोगो को यह आत्मिक लाभ पहुँचा। फल-स्वरूप कला मे देश-भाव की जो संकीर्णता थी आदान-प्रदान की सहृदयता ने उसे तोड दिया, कला की सृष्टि व्यापक विचारो से होने लगी, और हर जाति की उत्तमता से प्रेम-सम्बन्ध जोड कर उससे अपनी जातीय कला को प्रभावित करने लगी।

काव्य तथा काव्य-जन्य संस्कृति पर भी यह प्रभाव पडा। प्राचीन मालकोश राग की वीर मूर्ति अंग्रेजी स्वर मे, नायिका के दिल का दर्द भैरवी से अधिक उर्दू की गजलों मे मिलने लगा, और भी बहार तथा आसावरी की लोकप्रियता थिएटरो के मिश्र-हृदय को गुदगुदा कर बाहरी चपलता से गिरह लगा देनेवाली रागिनियो ने ले ली। इस प्रकार प्राथमिक चित्र भी अपने जातीय पद्य-वैशिष्ट्य की परिखा पार कर संसार के प्रागण मे नये दूसरे रूप से देख पडने लगे। उनके रूप-भाग मे कुछ देशीय विशिष्टता रह गई, पर अरूप भाग से वे मनुष्य मात्र की संपत्ति बन गये। अरूप अंश, वर्णना भेद के रखने पर भी, पूर्ववत् अच्छेद रहा, रूप-अंश ने जातीय विशिष्टता को रखते हुए संसार की सभ्यता से भी सहयोग किया।

रवीन्द्रनाथ भारतीय काव्य साहित्य मे इस कला के निपुण कलाकार है।

उदाहरण—

"अचल आलोके रयेछ दाडाये,
किरण-बसन अङ्गे जडाये,
चरणेर तले पडिछे गडाये,
छडाये विविध भङ्ग,

गन्ध तोमार घिरे चारि धार,
उडिछे आकुल कुन्तल-भार,
निखिल गगन कापिछे तोमार,
परस-रस-तरंगे ।

(निस्पन्द प्रकाश मे तुम खडी हुई हो, किरणो से शुभ्रवसना, चरणो से किरणो की धारा झर रही है, विविध भंगो से टूटती चलती हुई । तुम्हारी अंग-सुरभि चारो दिशाएँ घेरे हुए है । आकुल केशो का भार उडता हुआ, तुम्हारे स्पर्श-रस की तरंगों से अखिल आकाश प्रकाशित हो रहा है ।)

यह नारी-मूर्ति इतनी मार्जित है कि इसे देखकर कोई विश्व-नागरिक इस ज्योतिर्मय रूप को पाकर मुग्ध हो जायगा । तुलसीदास के केवल सौदर्य-रूप राम की तरह रवीद्रनाथ की सुन्दरी मे जडता अणुमात्र के लिए भी नहीं । यहाँ एक जगह रवीन्द्रनाथ का पश्चिम-स्नेह रूप-मय प्रमाण के तौर पर प्रत्यक्ष होता है । जहाँ चरणो से ज्योति की धारा प्रवाहित हो चलती है, वहाँ ध्यान पश्चिम की सम्राज्ञियो के पीछे लटकते हुए लम्बे वस्त्र की ओर आप चला जाता है ।

सौन्दर्य, रूप तथा भावनाओं के आदान प्रदान में केवल पूर्वही पश्चिम से प्रभावित हुआ यह नही सहृदयता का अमृत यहा से वही अपनी मृतसंजीवनी का विशिष्ट परिचय दे रहा है, जिन जिन प्रान्तो में अँग्रेज़ी शासन का पहला प्रभाव पडा, इस नवीन साहित्य की जड वहाँ वहाँ पहले जमी, और इसलिये वहाँ के साहित्यिक इस कार्य मे बहुत कुछ प्रगति कर सके । मेरा मतलब ख़ास तौर से बंगाल के लिये है ।

बंगाल के अमर काव्य 'मेघनादबध' के रचयिता माइकेल मधुसूदन दत्त के सम्बन्ध मे यह प्रसिद्ध है कि उन्होने अपने महाकाव्य की रचना कई देशों के महाकवियो के अध्ययन के पश्चात् की थी । वे फ्रेंच, ग्रीक, लैटिन आदि कई भाषाएँ जानते थे, और योरप मे रहने के समय काव्य-शास्त्र मे काफ़ी प्रवेश कर लिया था । कुछ हो, माइकेल मधुसूदन

की रचना मे जितनी शक्ति मिलती है, उतना जीवन नही मिलता है। रवीन्द्रनाथ के द्वारा बंग-भाषा को वह जीवन मिलता है। उनकी अकेली शक्ति बीस कवियो का जीवन तथा इन्द्रजाल लेकर साहित्य के हृदय-केन्द्र से निकली और फैली।

हिन्दी मे छायावादी कहलानेवाले कवियो से उसका श्रीगणेश हुआ। प्राचीन साहित्य के रक्षकों की साहित्यिक प्रतिष्ठा को पार कर अपनी नवीनता की जड साहित्य के हृदय मे पूर्ण रीति से जमाने मे अकृतकार्य रहने पर भी, अधिकांश आलोचको के कहने के अनुसार पद्य-साहित्य का बाजार आजकल इन्हीं के हाथ है। विचारदृष्टि से यद्यपि श्रेय अभी खडी बोली के मध्यकाल के कवियो को अधिक है, पर जहाँ प्राणो की बात उठती है, वहाँ आधुनिक कवि ही ज्यादा ठहरते हैं। प्रसादजी की भावनाओ और पंतजी के चित्रो मे अभीफित नवीनता की कोमल किरणें बडी ख़ूबसूरती से फूट रही हैं।

पर अभी हमारे नवीन साहित्य को समयानुकूल परिमार्जन और विराट भावनाओ की बडी आवश्यकता है। इतने से दैन्य दूर न होगा। उसकी दिगन्त पुष्टि अभी नही हुई, कारण जो भी हो, हमारे नये पद्य-साहित्य मे विराट चित्रों की ओर कवियो का उतना ध्यान नही, जितना छोटे-छोटे सुन्दर चित्रो की ओर है। युक्तप्रात, विहार, मध्य-भारत, मध्यप्रांत आदि ऐसी प्रकृति की गोद में हैं जहाँ विराट दृश्यो की अपेक्षा बाग तथा उपवनों के छोटे चित्र ही विशेषत सूझते हैं। बडी-बडी नदियो, समुद्र तथा आकाश के उत्तमोत्तम चित्र नहीं मिलते। रवीन्द्रनाथ द्वारा अङ्कित सौन्दर्य का एक विराट चित्र देखिए—

जेनो गो विवशा होयेछे गोधूली,
पूरबे आँधार वेणी पड़े खुली
पश्चिमेते पड़े खसिया खसिया
सोनार आँचल तार।

(मानो गोधूलि विवश हो रही है पूर्व ओर उसकी अंधकार बेणी खुली पडती है और पश्चिम की तरफ खुल खुल कर उसका सोने का आँचल गिर रहा है ।)

छोटे रूप की क्षणिक प्रभा मे स्थायी प्रभाव न मिलने के कारण रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

'क्षुद्ररूप कोथा जाय बातासे उडिया
दुइ चार पलकेर पर,

(छोटा रूप न जाने कहाँ हवा मे दो-ही चार पल मे उड जाता है)

साहित्य के हृदय को दिगन्त-व्याप्त करने के लिए विराट रूपो की काव्य मे प्रतिष्ठा करना अत्यन्त आवश्यक है । अवश्य छोटे रूपो के प्रति यहाँ कोई द्वेष नही दिखलाया जा रहा । रूप की सार्थक लघु-विराट कल्पनाएँ ससार के सुन्दरतम रङ्गो से जिस तरह अङ्कित हो, उसी तरह रूप तथा भावनाओ से अरूप मे सार्थक अवसान भी आवश्यक है। कला की यही परिणति है और काव्य का सब से अच्छा निष्कर्ष । इस प्रकार काव्य के भीतर से अपने जीवन के सुख-दुख-मय चित्रो को प्रदर्शित करते हुए परिसमाप्ति पूर्णता मे होगी । जैसे—

कभी उड़ते पत्तो के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढाकर लहरो से लघु हाथ
बुलाते है मुझको उस पार ।
(सुमित्रा-नन्दन पंत)

यहाँ उडते पत्ते और तट की लहरे अनन्त, असीम का इंगित करती हुई उस पार बुलाती है । लौकिक सब रूपो को अलौकिकता मे पर्यवसित करने का बलशाली संकेत जैसे इस कविता की, वैसे ही सम्पूर्ण भारतीय कविता की प्रमुख विशेषता है । किसी भी तत्वदर्शी को इस सम्बन्ध में सन्देह नही हो सकता ।

मुद्रक—प० विश्वम्भरनाथ भार्गव स्टैंडर्ड प्रेस, इलाहाबाद ।

तरुण-भारत-ग्रन्थावली की पुस्तकें

[सम्पादक—पं० लक्ष्मीधरजी वाजपेयी]

(१) सचित्र प्राणायाम-रहस्य	१॥)
(२) आहारशास्त्र सचित्र	२)
(३) गार्हस्थ्यशास्त्र	१)
(४) धर्मशिक्षा	१)
(५) साहित्य-सीकर	१)
(६) सदाचार और नीति	॥।)
(७) हमारे बच्चे स्वस्थ और दीर्घजीवी कैसे हों	१)
(८) भोजन और स्वास्थ्य पर महात्मा गांधी के प्रयोग	॥।)
(९) ब्रह्मचर्य पर महात्मा गांधी के अनुभव	॥)
(१०) इच्छाशक्ति के चमत्कार	।-)
(११) उषःपान	।-)
(१२) हमारा स्वर मधुर कैसे हो ?	।-)
(१३) अपना सुधार	॥=)
(१४) कान के रोग और उनकी चिकित्सा	।)
(१५) दयालु माता	।=)
(१६) सद्गुणी पुत्री	।=)
(१७) महादेव गोविन्द रानडे	॥।)
(१८) एब्राहम लिंकन	॥।)
(१९) फ्रांस की राज्यक्रान्ति	१)
(२०) इटली की स्वाधीनता	॥)
(२१) सचित्र दिल्ली और इन्द्रप्रस्थ	॥।)
(२२) मराठों का उत्कर्ष	२)
(२३) ग्रीस का इतिहास	१।)